जीवन पथ

स्वामो ब्रह्ममुनि

जीवन पथ

जिसमें

मनुष्य जीवन के वैयक्तिक, सामाजिक तथा धार्मिक आदि
आवश्यक कर्तव्यों का अनुसन्धान पूर्वक और नये ढंग
से वर्णन है जो बालक से वृद्ध पर्यन्त के
आचरण में आने के योग्य है

लेखक—

श्री० पं० प्रियरत्न जी आर्ष

(वर्तमान स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड)

प्रकाशक—

आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर

मुद्रक—

दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर

ोधित व परिवर्धित
संस्करण

मूल्य १.५०

★ ओ३म् ★

प्रथम संस्करण की भूमिका

श्री पं० प्रियरत्नजी आर्य सार्वदेशिक सभा के अन्वेषण-विभाग के इनचार्ज और कार्यकर्ता हैं। आपने इस बड़े उत्तर-दायित्व का कार्य करते हुये भी अपने अथक पुरुषार्थ से अपने अवकाश के समय में इस ग्रन्थ की रचना की है। इस पुस्तक में वर्णाश्रम का वर्णन करते हुए अनेक उपयोगी बातें बतलाई गई हैं। मनु ने अपनी स्मृति में चारों वर्णों के धर्म वर्णन किये हैं जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ में मिलेगा। उन धर्मों (कर्तव्यों) पर विचार करने से एक बड़े महत्व की बात मालूम होती है जिसे नीचे के चित्र से जाना जा सकेगा :—

नाम वर्ण—	परलोक सम्बन्धी कर्तव्य—	लोक सम्बन्धी कर्तव्य—
ब्राह्मण	वेदाध्ययन, यज्ञ करना तथा दान देना	वेदाध्यापन यज्ञ कराना तथा दान लेना
क्षत्रिय	,,	प्रजा रक्षणादि
वैश्य	,,	कृषि व्यवसाय, पशु रक्षण
शूद्र	—	सेवा

चित्र से प्रकट है कि वर्णभेद परलोक सम्बन्धी कर्मों में नहीं होता। परलोक सम्बन्धी कर्म मनुष्य मात्र के लिये एक ही प्रकार के हैं। वर्णों की भेद मर्य्यादा, लोक सम्बन्धी कर्मों पर निर्भर होती है जिनके द्वारा मनुष्य धनोपार्जन करके जीवन निर्वाह की सामग्री संग्रह किया करता है।

आश्रम मर्यादा पर दृष्टिपात से प्रकट हो जाता है कि ब्रह्म-चर्य्य, वानप्रस्थ और संन्यस्थाश्रमियों के लिये धनोपार्जन की वृत्ति निषिद्ध है। धनोपार्जन केवल गृहस्थाश्रमी कर सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि वर्णभेद केवल गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत होता है।

वेद में इसीलिये कहा गया है कि "शम्नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु" (ऋ० ७ । ३५ । ४) अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के अच्छे कर्म हमें सुख देवें और इसी प्रकार अथर्ववेद में कहा गया है "मा जीवेभ्य प्रमदः" (अथर्व० ८ । १ । ७) अर्थात् अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में जो तुम्हारा कर्तव्य है उसके करने में प्रमाद न करो। आर्य्य समाज के ९वें नियम में भी इसी कर्तव्य का संकेत किया गया है अर्थात् "मनुष्यों को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।" वर्णाश्रम व्यवस्था को इस प्रकार समझ लेने से मनुष्य अपने को भी श्रेष्ठ बना लिया करता है और अपनी जाति या समाज (देश) को भी अच्छा बनाने का कारण बना करता है। जैसा कि कहा जा चुका है ग्रन्थकर्ता ने पुस्तक में अनेक उपयोगी बातें बतलाई हैं जिन से मनुष्य अपने विचारों को उत्कृष्ट बनाते हुए अच्छे कर्म करने योग्य बना सके। निष्कर्ष यह है कि पुस्तक उपयोगी और सभी के काम की चीज़ है और यथासम्भव अधिक से अधिक नर नारियों को इससे लाभ उठाना चाहिये ।

बलिदान भवन, देहली
फाल्गुन कृष्ण ९ सं० १९८९

नारायण स्वामी

जनता के अनुरोध पर इस पुस्तक का संशोधित व परिवर्धित संस्करण मंडल द्वारा ही प्रकाशित किया गया है। आशा है अधिक से अधिक नर नारियाँ इससे लाभ उठावेंगे।

शिरीष चन्द्र शिवहरे
मैनेजिंग डायरेक्टर
आर्य साहित्य मंडल लि०, अजमेर

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
व्यक्तिजीवन—	१–९
१. जीवन की श्रेणियां	
२. मनुष्य जीवन का उत्थान	
३. दिव्यजीवन बनाने के साधन और फल	
४. कायिक, वाचिक, मानसिक और आत्मिक सुचरित्रों तथा दुश्चरित्रों का पटल	
सामाजिक जीवन—	१२–१८
१. सामाजिक जीवन की महिमा	
२. समाजस्थापना का मूल सिद्धान्त	
३. छूत छात का निवारण	
४. गुणकर्मानुसार वैदिक वर्णव्यवस्था	
५. ब्राह्मण आदि वर्णों के कर्त्तव्य	
६. वर्णव्यवस्था की निर्णायक राजघोषणा	
७. शूद्र का उपनयन संस्कार	
८. सामाजिक जीवन के रोग	
राष्ट्रियता—	१९–२३
१. राजा का निर्वाचन प्रजा की तरफ से	
२. राजा बनने के लक्षण	
३. विद्वान्, ब्राह्मण, दार्शनिक, उच्चशिल्पी आदि राष्ट्र के रत्न हैं	
४. ब्राह्मण के तिरस्कार से राष्ट्र का पतन	
५. सेना में समवृत्ति, समचेष्टा और समवेश आदि	
६. राष्ट्र में भाषा की एकता	
विश्वहित—	२४–२५
१. विश्व हितैषी के लक्षण और कर्त्तव्य	
२. परार्थ में स्वार्थ	

धर्मचर्या— २६–५९

१. दिनचर्या और जीवनचर्या
२. शिष्टाचार और सदाचार
३. ब्रह्मचारी का भोजन, वर्ताव और सोना कैसा हो ?
४. ब्रह्मचर्य ही जीवन की शोभा है
५. वीर्यनाश की चिकित्सा और दुरभ्यास का निवारण
६. विवाह काल और स्वयंवर विधि
७. पति-पत्नी का परस्पर सम्बन्ध
८. उत्तम सन्तान की उत्पत्ति का उपाय
९. सन्तानों के पालन और शिक्षण का प्रकार
१०. गृह-व्यवस्था
११. पञ्चमहायज्ञों का प्रश्नोत्तर द्वारा विशेष विवरण तथा संस्कार आदि पारिवारिक आचरण
१२. मनुष्यों का सामान्यधर्म

वैज्ञानिक परिचय— ६०–८७

१. शरीर विज्ञान
२. मनोविज्ञान
३. आत्मविज्ञान
४. भूमिविज्ञान
५. खगोलविज्ञान में विशेषतः सूर्यविज्ञान सूर्य की सहस्ररश्मि–सप्तरश्मि–द्विरश्मि–एकरश्मि का विज्ञान
६. ब्रह्मविज्ञान में विशेषतः "सच्चिदानन्द" स्वरूप की फिलासफी और ब्रह्म प्राप्ति का साधन चार प्रकार का श्रवण

जीवन पथ

प्रथम स्थान

व्यक्ति जीवन

सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक जितने महापुरुष या नेता हो चुके तथा जितने धर्म और सम्प्रदाय चल चुके हैं उन सभी का यह एक लक्ष्य रहा है कि मानवीय-प्रजा सदा उन्नति और सुख के साथ जीवनयात्रा की सफलता अनुभव कर सके। इसके लिये अनेक महानुभावों और भिन्न भिन्न धर्मों या सम्प्रदायों की ओर से बहुविध यत्न किया गया, उपदेश तथा ग्रन्थ रचना के द्वारा जनता में अपनी ध्वनि को पहुंचाया, और यत्र तत्र घूम फिर कर प्रचार किया। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि उक्त उद्देश्य के अन्दर उनको कितनी सफलता हुई, अथवा उनके आदेशों से मानवप्रजा अपने ध्येय को पूरा करने में सफल हो सकी या नहीं, तथापि हम यह अवश्य बतलाना चाहते हैं कि वैदिकधर्म उक्त ध्येय की प्राप्ति के लिये पूर्ण है, अतएव वेद और वैदिक तथा प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर उसकी प्राप्ति के सम्बन्ध में पूर्ण विचार प्रस्तुत करते हैं। व्यक्ति, परिवार (गृहस्थ) समाज, राष्ट्र, विश्व, धर्म, और विज्ञान ये सात जीवन-पथ के स्थान हैं। प्रथम स्थान व्यक्ति जीवन का है। जीवन का प्रश्न जब हमारे सामने आता है तो संसार में

साधारण दृष्टिपात करने से हमें दो प्रकार के जीवन दिखलाई पड़ते हैं, जिनमें एक जड़ जीवन है और दूसरा चेतन जीवन। जड़ जीवन के अन्दर झाड़ियां, लताएं, बेलें, और वृक्ष आदि वनस्पतिवर्ग है। यह वर्ग ऋतुओं के कोप से अपनी रक्षा करने मेंस्वयं समर्थ नहीं है।

१. (क) "जब किसी वृक्ष की अतिशीत से हानि होती हो तो वह अपने आपको किसी प्रकार भी बचा नहीं सकता; वह अति-शीत से पीला होकर मर जाता है। (ख) ग्रीष्म ऋतु के कठिन ताप से पौदा सूख जाता है किन्तु अपनी रक्षा करने में किञ्चित् भी समर्थ नहीं होता। (ग) तीव्र वर्षा और दैवी उत्पात से वृक्ष गिर जाता, छिन्न भिन्न हो जाता है परन्तु उनके दूरीकरण का कोई उपाय नहीं कर सकता।

२. (क) स्वसमीप खाद्य पदार्थों के न होने से पौदा मर जाता है, प्रत्युत दूर स्थान से अहार ग्रहण नहीं कर सकता।

३. मनुष्य आदि के द्वारा हुए आघातों का प्रतिकार करने में अत्यल्प भी शक्ति नहीं रखता चाहे कोई पत्ता तोड़े, फल तोड़े, या समूल भी कोई उखाड़ दे, नष्ट कर दे। यह है जड़ जीवन अर्थात् अत्यन्त पराधीन जीवन और निष्क्रिय जीवन। इसी प्रकार जिस व्यक्ति या समाज और राष्ट्र के अन्दर परतन्त्रता है और निजरक्षा करने की शक्ति नहीं वह व्यक्ति या समाज या राष्ट्र जड़ है, निकम्मा है और निरर्थक है। चेतन जीवन के अन्तर्गत मनुष्य, पशु और पक्षी आदि प्राणि हैं इसके भी दो विभाग हैं, एक मानव जीवन और दूसरा जान्तव जीवन। जान्तव जीवन में मनुष्य से भिन्न पशु और पक्षी आदि सभी जन्तु आ जाते हैं।

१. (क) उक्त प्राणी अतिशीत आदि ऋतु के प्रकोपों से अपनी रक्षा करने में किञ्चित् स्वतन्त्र हैं, वे बने बनाए भवन आदि की छाया में अपना बचाव कर लेते हैं किन्तु स्वयं भवनादि निर्माण करने में सर्वथा असमर्थ हैं। (ख) दूरस्थ खाद्यवस्तु को

प्राप्त करने के लिये स्थानान्तर में जाने का यत्न करते हैं परन्तु स्वयं आहारोत्पादन-कला से अनभिज्ञ हैं। स्वयं खेती कर अन्न नहीं उपजा सकते। (ग) अपने से भिन्न के आक्रमण का प्रतिकार नख, दन्त आदि अङ्गों द्वारा ही कर सकते हैं किन्तु शस्त्रादि प्रयोगों से आक्रमण और प्रतिरोध करने में सर्वथा शक्तिहीन हैं। बस यह जान्तव जीवन का स्वरूप है तथा जड़ जीवन या निष्क्रिय परन्तु जान्तव जीवन सक्रिय जीवन तो है किन्तु अतिदीन या अतिक्रूर जीवन है—नागरिक जन्तुओं में अतिदीनता और जाङ्गालिकों में अति जड़ता है। मनुष्य में ये अतिदीनता दासता और अतिक्रूरता से दस्युता आ जाती है। मानवीय जीवन में अनन्त शक्तियों का निवास है। दैवी आपत्तियों से बचने के लिये मनुष्य गृहनिर्माण, अन्नोत्पादन, उचित भोजन छादन और शत्रु पर आक्रमण तथा प्रतिरोध के निमित्त दण्ड, लट्ठ, तलवार, बन्दूक, तोप आदि अनेक अस्त्रशस्त्रों का प्रयोग करता है। जिन जिन वस्तुओं और विषयों का इन्द्रियों से परिचय नहीं होता उनके परिचयार्थ नाना प्रकार के उपयोगी यन्त्रों का निर्माण करता है। शरीर के अतिसूक्ष्म तन्तुओं और खगोल के अदृश्य ग्रह ताराओं को भी अणुवीक्षण (Microscope) और दूरवीक्षण (Telescope) जैसे यन्त्रों से देख लेता है। इसके अतिरिक्त लौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिये यज्ञ आदि का सेवन, पाकविद्या से भोजन-निर्माण, वाक्-शक्ति को बढ़ाने के लिये भिन्न-भिन्न भाषाओं का अध्ययन, मनोविकास के लिये अनेक विद्याओं का ज्ञान और आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के हेतु योगाभ्यास आदि बुद्धि विषयक कर्म मनुष्य जीवन में ही घटते हैं। तात्पर्य यह है कि मानव जीवन के अन्दर बुद्धि की विशेषता है अर्थात् बुद्धिपूर्वक साधनों से मनुष्य अपनी जीवनयात्रा में सर्वथा स्वतन्त्र है। प्राचीन विद्वानों ने इस

विशेषता को धर्म के नाम से कहा है*। बुद्धि पूर्वक वैयक्तिक उन्नति और परमार्थ कर्मों का आचरण करना ही धर्म है, ऐसा वैदिक और दार्शनिक ऋषियों ने माना है†। बुद्धि के अनुकूल कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखने का आदेश और उपदेश मानवीय जीवन के लिये वेदों में किया है‡। मानवीय जीवन के अन्दर बुद्धिपूर्वक कर्म-विधान के साथ साथ कर्मस्वातन्त्र्य का सिद्धान्त तथा उत्तम आदेश भी वेद में निम्न प्रकार वर्णित है:—

"स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं महिमा ते यजस्व स्वयं जुषस्व। अन्येन न सन्नशे॥" (यजु० २३। १५)

अर्थ—(वाजिन्) हे शक्तिशाली जीवात्मन्! (तन्वम्) अपने तनु अर्थात् हाथ पांव नेत्र जिह्वा मन आदि साधनों सहित शरीर को (स्वयं कल्पयस्व) स्वयं समर्थ बना, और (स्वयं यजस्व) स्वयं ही अपने उक्त साधनों को कार्य में लगा। तथा (स्वयं जुषस्व) उसका फल भी स्वयं सेवन कर। "जो करता है सोई भोगता है कर्मफल करने वाले को ही मिलता है।" (महिमा ते) तेरी यह शक्ति (अन्येन) किसी से (न सन्नशे) नष्ट नहीं की जा सकती।

उक्त मन्त्रार्थ को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं कि मानो आप किसी धर्मोत्सव में उपदेश सुनने जाते हैं। उत्सव-स्थान तक प्रथम पांव से चलना पुनः कानों से उपदेश सुनना और मन से उसको समझते जाना यह एक आपकी प्रवृत्ति का क्रम है।

---

* "आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्। धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना: पशुभिः समाना:"।

† "वेदप्रतिपाद्योऽर्थो धर्मः" बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे "यतोऽभ्युदय-नि:श्रेयससिद्धि: स धर्मः" (वैशेषिक दर्शन)

‡ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" (यजुः। ४०। २)

इस कार्य के लिये पांव में चलने, कानों में सुनने और मन में समझने का सामर्थ्य आवश्यक है अतएव वेद कहता है "स्वयं वाजिस्तन्वं कल्पयस्व" यह एक वेद का प्रोत्साहन या आदेश है। वास्तव में इस समय मनुष्य जो स्थानान्तर में आता जाता है, यह सामर्थ्य स्वयं ही उसने सम्पादन किया है क्योंकि उसने बालकपन में इच्छाशक्ति और उग्र प्रयत्न से बारम्बार गिर गिर कर चलते उठते पैरों में चलने की शक्ति उत्पन्न करली थी। इसी प्रकार कानों में सुनने और मन में समझने आदि की शक्तियों के विषय में भी जानना चाहिये। यह बात आगे चलकर सुगमता से समझ में आ जावेगी कि मनुष्य अपने अङ्गों में अपने आप ही सामर्थ्य को उत्पन्न करता है। सामर्थ्यानुसार निज अङ्गों को एक विषय में लगा देना यजन है अर्थात् उपदेश सुनने के लिये पांव, श्रोत्र और मन का प्रवृत्त होना ही यजन है, वह सामर्थ्यवान् आत्मा के अधीन है इसीलिये वेद ने कहा "स्वयं यजस्व"। उपदेश से संस्काररूप लाभ आत्मा में सञ्चित होता है, यह "स्वयं जुषस्व" श्रुति का सार है। इस प्रकार आत्मा की प्रयत्नशीलता, मनुष्य-जीवन का साफल्य और उसका अमरपन सिद्ध होता है, "महिमा ते अन्येन न सन्नशे" का यही मर्म है।

अब यह विस्पष्ट सिद्ध हुआ कि यद्यपि मनुष्य अपना समग्र कार्य उक्त अङ्गों के द्वारा ही करता है तथापि इन सभी अङ्गों की चेष्टा और व्यापार का निमित्त अपना आत्मा ही है, अतएव मनुष्य को उचित है कि अपनी आत्मशक्ति को प्रधान समझकर, स्वयं ही अपने साधनों को समर्थ बनावे और उनका उचित प्रयोग करके लाभ उठावे, वरन् यह निश्चित है कि सभी साधन निकम्मे होकर धीरे-धीरे अपनी प्रकृति में लीन हो जावेंगे। नैमित्तिक धर्म का विच्छेद हो जाने पर वस्तु निज कारण की ओर गति करती है, जिस प्रकार मिट्टी का ढेला ऊपर फेंका हुआ वेग की समाप्ति के पश्चात् न ऊपर चढ़ता है और न इधर उधर टेढ़ा होता है किन्तु

पृथ्वी का कार्य होने से पृथ्वी पर ही आता है, ठीक इसी प्रकार नैमित्तिक सञ्चार से शरीर की उपयोगिता और स्वरूपतः स्थिति बनी रहती है, वरन् निज कारण में लीन होने के लिये उसका झुक जाना अनिवार्य है। वस्तुतः शरीर के इन साधनों से कार्य लेना ही इनकी स्थिति और शक्ति को यथावत् चिरकालीन रखना है। काग़ज़ का टुकड़ा, बिना नैमित्तिक क्रिया के भूमि पर पड़ा पड़ा थोड़े दिनों में मिट्टी हो जाता है परन्तु जब बारम्बार क्रिया-सञ्चार और शोधन आदि किया जावे तो वह सैकड़ों वर्षों तक ठहर सकता है। यही दशा अन्य वस्तुओं के साथ भी है। लकड़ी यदि नैमित्तिक क्रिया से शून्य होकर भूमि पर पड़ी रहे तो कुछ वर्षों में मिट्टी बन जावेगी प्रत्युत यदि उसकी मेज कुरसी या अन्य वस्तुएं बनाकर रक्खी जावें तो वे उक्त नैमित्तिक सञ्चार से अधिक वर्षों तक रह सकती हैं। यही दशा शरीर की है। नैमित्तिक क्रिया के अभाव से निःसन्देह शरीर अपने कारण पृथ्वी में लीन हो जावेगा, अतएव नैमित्तिक सञ्चार के बिना अर्थात् साधनों में आत्मा की चेतना या प्रवृत्ति को काम में लिये बिना शरीर को निकम्मा ही बनाना है। आपने बहुधा देखा होगा कि हठयोगी साधु अपने एक हाथ से काम न लेकर उसको सुखा देते हैं और निकम्मा कर देते हैं। इसी प्रकार यदि आँखों पर भी चार छै मास पट्टी बान्धी जावे तो अवश्य मनुष्य अन्धा बन जावे। यही बात बुद्धि आदि सूक्ष्म साधनों के साथ भी समझें। बुद्धि से यदि काम न लिया जावे तो अवश्यमेव बुद्धि का नाश हो सकता है। अतएव प्रत्येक साधन में उसकी प्रवृत्ति के अनुसार सञ्चार की आवश्यकता है, सञ्चार से शक्तियां प्रवाहित होती हैं और प्रवाहित होने से विकास तथा वृद्धि को प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार नदी का जल अपने मार्ग में प्रवाहित होने से शुद्ध और बलिष्ठ रहता है उसी प्रकार शक्तियां सञ्चार से विकास और वृद्धि को प्राप्त होती हैं। बिना सञ्चार के जैसे नदी का जल दूषित हो जाता है वैसे ही इस शरीर में बुद्धि आदि साधन और

शक्तियां निकम्मी, असिद्ध और अनुपयुक्त हो जाती हैं। इन्द्रिय शक्तियों का सञ्चार दुर्व्यसनों में न करके पुण्यमार्ग में ही करना चाहिये। नदी का जल मलिन स्थानों में संचरित होने से दूषित हो जाता है परन्तु जब भूमिरूपी निकृष्टस्थान को छोड़कर जल भाप की दशा में सञ्चार करता है तो वह अत्यन्त निर्मल और उपयोगी हो जाया करता है तब उसके साथ मिट्टी के कण आदि का किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं रहता, इसी प्रकार मानवीय शक्तियां भी किसी सुकृत मार्ग में सञ्चार करती हैं तो पवित्र हो जाती हैं। मानवधर्म भी यही है कि ईश्वर की ओर से जो शक्तियां हमें अंकुर रूप में मिली हैं उनका अंकुर से वृक्ष की भांति हम विकास और संवर्धन करें। शक्तिसम्पादन के साथ साथ मनुष्य को साहस और उत्साह से अपना काम करते रहना चाहिये वेद का आदेश है "कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनञ्जयो हिरण्यजित्" (अथ० ७। ५२। ८) कर्म मेरे दक्षिण हाथ में है तो विजय या फल वाम हाथ में है अर्थात् मैं कर्मशील अवश्य सफलता प्राप्त कर सकूंगा, अपनी इन्द्रियों, गौ आदि पशुओं, भूमि वा राष्ट्र, धन धान्य और अन्य सम्पत्ति का विजेता अवश्य बनूंगा। बस यह मानवीय जीवन का सामान्य स्वरूप है। उन्नति के क्षेत्र में इससे आगे दैव-जीवन का सम्पादन किया जाता है।

मर्त्यजीवन और दैवजीवन यह मानव जीवन के दो भेद हैं। जो महानुभाव पुनर्जन्म देने वाले धार्मिक कर्मों का आचरण करते रहते हैं वे जन मर्त्यजीवन के अन्तर्भूत हैं। दैवजीवन के सम्पादनार्थ वैदिक आदेश इस प्रकार है—

(१) "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत" (अथ० ११। १९) देवलोग ब्रह्मचर्यानुष्ठान द्वारा मृत्यु को परास्त करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो लोग आयुभर आदित्य ब्रह्मचारी रहकर मृत्यु को परास्त करते हुए अपना शरीर त्यागते हैं वे देव कहलाते हैं। मन्त्र में आये हुए 'उपाघ्नत' शब्द का अर्थ परास्त करने का

है। अतएव उक्त मन्त्र का अभिप्राय स्पष्ट हुआ कि जो मनुष्य आयु भर आदित्य ब्रह्मचारी रहकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं वे देव कहलाते हैं। "मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय" (अथ० ६ । १३३ । ३) मैं (जीवात्मा) मृत्यु का ब्रह्मचारी हूँ। गार्हस्थ्य भोगार्थ स्त्री के लिए ब्रह्मचारी नहीं बना उससे संघर्ष करना है। संसार में देवकोटी में जितने भी महापुरुष हो चुके हैं उन सभी के जीवन में मृत्यु से संघर्ष की बात पाई जाती है। वर्तमान युग में ऋषि दयानन्द भी देवश्रेणी में हो चुके हैं उनके जीवन में भी उक्त ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण साक्षी है, ऋषि दयानन्द आदित्य ब्रह्मचारी थे यह विदित ही है।

(२) "देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्...." (छान्दो० १ । ४ । २) विद्वान् लोगों ने इस नश्वर संसार का विवेचन और सर्वत्र मृत्यु के अधिकार को अनुभव करते हुए भयभीत होकर त्रयीविद्या (ऋग्यजुःसामरूप से प्रसिद्ध ज्ञानत्रय या ज्ञानकर्म उपासनामय वेदों) का अध्ययन किया, फिर भी उनको मृत्यु से इस प्रकार भय प्रतीत हुआ जैसे जलाशय के अन्दर घूमती हुई मछलियों को मछवा से होता है। अतएव त्रयीविद्या के साररूप स्वर 'ओ३म्' अर्थात् परब्रह्मपरमेश्वर के अन्दर उन्होंने प्रवेश किया।

इस सिद्ध गाथा का आचरण देवश्रेणी के महापुरुषों में होना अवश्यम्भावी है अत एव ऋषि दयानन्द के जीवन में भी इसका प्रभाव था। दयानन्द ने अपने घर पर निज बहिन तथा चाचा की मृत्यु को भयानक रूप में देखा और भयभीत होकर घर छोड़ दिया। अन्त समय को देख दयानन्द ने घर से वन को जाना निश्चय किया कि जगत् में किसका किससे नाता। त्रयीविद्यारूप वेदों का अध्ययन किया पुनः उनके साररूप ओङ्कार की उपासना को स्वीकार और प्रचार किया।

(३) "सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः"

देवश्रेणी के पुरुषों को सत्य से अनुराग होता है। वे सत्य के अनुष्ठान और प्रचार में अपना जीवन तक बलिदान कर देते हैं। उनके सामने पुष्कल सम्पत्ति और बड़ी से बड़ी राजसत्ता भी तुच्छ है। दयानन्द में भी यह बात पूर्णरूप से पाई जाती है। अस्तु।

दैव-जीवन और उसकी महिमा के वैदिक आदेश वस्तुतः यही हैं। व्यक्ति-जीवन की उन्नति और सुसंस्कृति की पराकाष्ठा सचमुच यही है। स्यात्। अब उपसंहार के साथ एक चित्रपटल दिया जाता है जो व्यक्तिजीवन के सुधारार्थ अत्यन्त उपयोगी है:—

———

"सुचरित्र दुश्चरित्र पटल"

शारीरिक

सुचरित्र—	दुश्चरित्र—
१—ब्रह्मचर्य (सदाचार)	व्यभिचार
२—निर्मलता (शौच)	मलिनता
३—कर्मण्यता	आलस्य (अनुद्योग)
४—धर्म्याहार	अभक्ष्य भक्षण
५—श्रवण (सत्सङ्ग)	कुसंग
६—स्वास्थता	रोगग्रस्तता
७—दान	अपहरण
८—अहिंसा	हिंसा
९—परित्राण	उत्पीड़न
१०—कर्त्तव्यपरायणता	कर्त्तव्यानवधानता
११—परिचर्या	धृष्टता

वाचिका

सुचरित्र—	दुश्चरित्र—
१—सत्यभाषण	मिथ्यावाद
२—मितभाषण	वाचालता
३—मधुरभाषण	परुषवाक्
४—धर्म्यभाषण (उपदेश)	पैशुन्य (चुगली)

मानसिक

सुचरित्र—	दुश्चरित्र—
१—सुविचार(सद्भावना)	अपवित्र विचार
२—सन्तुष्टि	असन्तोष
३—स्वाध्याय	कालयापन
४—श्रद्धा	अश्रद्धा

५—मनन	संशय
६—चित्तस्थैर्य	चञ्चलता
७—निष्कामता	सकामता
८—निःस्पृहता	क्षोभ
९—निर्वैरता	द्वेष
१०—अनीर्ष्या	ईर्ष्या
११—हितचिन्तन	अहितचिन्तन

आत्मिक

सुचरित्र—	दुश्चरित्र—
१—प्रसन्न	चिन्ता (शोक)
२—शान्त वृत्ति	अशान्ति
३—तपश्चर्या	सुकुमारता
४—विवेक	अज्ञता (मूर्खता)
५—निष्ठा	अविश्वास
६—आस्तिकता	नास्तिकता
७—योग (आत्म दर्शन)	सांसारिकता (लिप्तता)
८—साधुता	क्रोध
९—निरभिमान	अनारम्भ
१०—सरलता	कुटिल भाव
११—नम्रता (निरभिमानता)	उद्धतता
१२—निर्मोहता	मोह
१३—समदृष्टि	पक्षपात
१४—मित्रदृष्टि	शत्रुभाव
१५—वैराग्य	दुर्वासना
१६—तितिक्षा (सहनशीलता)	अधैर्य (असहन)
१७—जितेन्द्रियता	विषयाधीनता

—

द्वितीय स्थान

सामाजिक जीवन

संसार यात्रा उचित रूप से करने के लिये अनेक कार्य सामाजिक परिस्थिति में भी करने पड़ते हैं इसी को सामाजिक जीवन, जातीय जीवन, संगठन का जीवन या सामुदायिक जीवन कहते हैं। सामुदायिक जीवन में अनोखी सुन्दरताओं, विचित्र गुणों और अद्भुत शक्तियों का निवास और विकास हो जाता है। यह बात न केवल मनुष्यों में ही अपितु जड़ वस्तुओं तक में मिलती है। भूमि में जब हरी हरी घास के पौधे परस्पर सामूहिक रूप में खड़े होते हैं तो वह अति सुन्दर दिखलाई पड़ती है। आकाश मार्ग में उड़ते हुए सारस-कुंज आदि पक्षियों का समूह अत्यन्त शोभायमान प्रतीत होता है। जङ्गल में विहार करती हुई मृगश्रेणी अतिप्रिय लगती है। बगीचे के अन्दर सामूहिक नियम से लगे हुए नानाविध पुष्प फलादि के तरु पेड़ पौधे उसको सुशोभित और मनोहर बना देते हैं।

कपास के बारीक बारीक तन्तुओं का समूह रस्से के रूप को धारण करके बड़े बड़े मत्त हाथियों को बांध लेता है। राजशक्ति सामूहिक जीवन पर ही निर्भर है। वेद में सामूहिक जीवन की बड़ी भारी महिमा वर्णन की है। साथ में उचित रूप से सामाजिक जीवन बनाने के अपूर्व आदेश भी किये हैं, संक्षेप से उनका वर्णन हम करते हैं—

(!) "संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भाग यथा पूर्वे संजानाना उपासते" (ऋ० १०। १९१। २)

ईश्वर मनुष्यों को उपदेश देता है "हे मनुष्यों ! तुम (सङ्गच्छध्वम्) परस्पर मिलो, समाज के रूप को धारण करो। इसलिये कि (संवदध्वम्) मिलकर फिर तुम संवाद करो जिससे कि (मनांसि वः सञ्जानताम्) तुम्हारे सबके मन सहमत हो सकें, परस्पर एक दूसरे से मिल सकें। तत्पश्चात् (यथा पूर्वे देवाः सञ्जानाना भागमुपासते) जिस प्रकार तुम से पहिले विद्वान् लोग एक मत होकर अपने अधिकार, अपने उद्देश्य का सेवन किया करते थे उसी प्रकार तुम लोग भी करते रहो।"

इसमें कुछ सन्देह नहीं जिस जाति या देश के जन सामाजिक परिस्थिति में एकत्र होकर—संगठन में आकर – काम नहीं करते उस जाति या देश का उत्थान असम्भव है। एकत्र होने पर भी परस्पर संवाद की आवश्यकता है। जिस समाज में केवल विवाद ही होता रहता हो, उसे मानवसमाज नहीं कहा जा सकता और न ऐसे समाज से कोई कार्य ही सिद्ध हो सकता है। अतएव समाज के अन्दर विचारों का परस्पर समन्वय होना आवश्यक है। जिन-जिन बातों में ऐकमत्य हो उन उनका स्वीकार अवश्य होना चाहिये। स्वीकृति और निर्णय के अनन्तर सब को उसमें मिलना और भाग लेना आवश्यक है। यही विद्वानों और समझदार पुरुषों का काम है।

(i) आर्य जाति और आर्यावर्त देश के अन्दर जबसे इस वेदाज्ञा का उल्लंघन होता रहा तभी से इस जाति और इस देश का पतन हुआ। सङ्गठन में अप्रवृत्ति, परस्पर विवाद और विचारों की विभिन्नता ने क्या क्या रङ्ग नहीं दिखलाये ? भाग्यवश वर्त्तमान समय में युगप्रवर्तक ऋषि दयानन्द आये और उन्होंने वैदिक आदेशों का प्रचार किया। तब ही से कुछ उत्थान की आशा हो चली है। उक्त मन्त्र में एक और बात ध्यान रखने योग्य है वह यह कि वेद ने मनुष्यमात्र के मिलने का आदेश किया है; ब्राह्मणादि

भेद से पृथक् पृथक् उपसमाजें (पार्टियाँ) बनाने का नहीं। जो "सङ्गच्छध्वम्" के सामान्योपदेश से सिद्ध है।

(ii) दूसरे स्थान पर "समानो मन्त्रः" (ऋ० १०।१६१।३) वेद के मानने वालों अथवा मनुष्यमात्र का मन्त्र एक होना चाहिये नकि किसी का सीताराम और किसी का राधेश्याम इत्यादि। साम्प्रदायिक मन्त्रभेद ने भारत को जो दुर्दिन दिखलाये और आर्यजाति को कलङ्कित किया वह किसी से छिपा नहीं है।

(iii) "समानीप्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि" (अथर्व०३।३०।६) पीने की वस्तुएं, पात्र, स्थान समान हों, भोजनालय एक हो, इस प्रकार खान-पान एक हो जाने पर एकता के सूत्र में तुमको जोड़ता हूं, यह एक ईश्वर का आदेश है। यहाँ पर भी बिना किसी बन्धन के मनुष्यमात्र के वास्ते सहभोज, पंक्तिभोज और खान-पान की एकता का वर्णन है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि जब तक खान-पान की एकता न हो जावे तबतक परस्पर सुखलाभ नहीं हो सकता। भारतवर्ष में खान-पान की छूतछात ने जो हानियाँ पहुँचाई हैं वह सबको विदित ही हैं।

(iv) सामाजिक जीवन की स्थिरता का अत्यन्त आवश्यक उपाय गुणकर्मों के आधार पर वर्णव्यवस्था की स्थापना ही है। रूपकालङ्कार में वेद ने इसके सम्बन्ध में अतिस्पष्ट आदेश किया है। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥" (यजु० ३१।११) जिस प्रकार वैयक्तिक शरीर में मुखादि अङ्गों की आवश्यकता है तथा प्रत्येक अङ्ग अपने धर्मों में वर्तमान हैं, इसी प्रकार समाजरूपी शरीर के अन्दर भी मुख आदि अङ्गों की कल्पना की गई है जिससे सामाजिक जीवन भली प्रकार स्थिर रह सके। वेद ने इस अलङ्कार से ब्राह्मणादि वर्णों के लक्षण और कर्तव्य का विधान किया है। मुख के अन्दर ज्ञानेन्द्रियों का विशेष स्थान है। सब स्वादु पेय, लेह्य, आस्वाद्य और भक्ष्य पदार्थों का सेवन मुख के अन्दर त्यागरूप से होता है।

प्रत्येक ऋतु में मुख नग्न रहकर शीत, उष्ण, वर्षादि का सहन करता है। इससे हम समझ सकते हैं कि समाज के अन्दर जो जन ज्ञानी विज्ञानी तथा त्यागी और तपस्वी हों वे ब्राह्मण पद के अधिकारी होते हैं। दूसरी उपमा क्षत्रियों के लिये दी है, बाहु की बाहु के अन्दर शरीर का रक्षण, संशोधन, आघात का प्रतिकार तथा अपराधी पर आक्रमण करने की शक्ति है। शरीर के अन्दर जब कोई विकार हो जाता है तो भुजायें उस मर्म या अङ्ग का संशोधन करती हैं। शरीर को सर्दी गर्मी तथा अन्य बाधाओं से वस्त्राच्छादन आदि द्वारा बचाती हैं। पीठ जैसे स्थूल अङ्ग पर भी लट्ठ आदि के प्रहार को रोकने के लिये भुजायें आगा लेती हैं। चाहे वे कट जावें या छोटी छोटी अंगुलियां छिन्न भिन्न हो जायें किन्तु किसी भी अङ्ग को आघात न पहुँच सके इसके लिये भुजायें भरसक यत्न करती हैं। यह एक क्षत्रियों के लिये आचरण करने का आदेश है। समाज या राष्ट्र के रक्षण, संशोधन तथा पराक्रमण के प्रतिकार और दुःख-निवारण के लिये जो मनुष्य बाहु के समान आचरण करने में अहर्निश तत्पर रहते हैं वे क्षत्रिय कहला सकते हैं। इसी प्रकार गौ, कृषि, धन-धान्य की उत्पत्ति, संग्रह और वृद्धि आदि करने तथा यथायोग्य अवसर पर विभाजन करने वाले वैश्य हैं। उदर में ये दो कार्य भोजन संग्रह और यथा योग्य विभाजन करने का गुण पाया जाता है। और सर्व प्रकार का परिश्रम करने वाले तथा शिल्पीजन शूद्र समझने चाहियें। शूद्र नीच नहीं होते उनका स्थान समाज में सबके समान है और वेदादि पढ़ने का अधिकार भी उन्हें है।

दूसरे देशों और जातियों के उन्नत होने का मुख्य कारण गुण कर्मों के आधार पर योग्यता का निर्णय करना ही है। प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार दिया जाता है कि वह अपनी प्रवृत्ति, रुचि और शक्ति के अनुसार यथेष्ट ब्राह्मणादि बन सकता है। प्राचीन भारत की उन्नति का कारण भी यही था किन्तु मध्य काल में

ब्राह्मण आदि वर्णों की योग्यता गुण कर्मों से हटाकर जन्म के ऊपर निर्भर कर दी। जब से मानव समाज पर योग्यता-सम्पादन करने में बन्धन डाले गये तभी से इस देश और देश के सामाजिक जीवन का ह्रास हुआ। वेद ने तो द्विज ही नहीं बल्कि शूद्रों अति-शूद्रों को भी पढ़ने का आदेश किया है†। अपनी उन्नति करने के लिये प्रत्येक मानव व्यक्ति स्वतन्त्र है। जिस प्रकार संसार के सभी दृश्यों को आँखों वाला पुरुष देखने में स्वतन्त्र और अधिकारी है उसी प्रकार प्रत्येक मानव मस्तिष्क भी विद्या-प्राप्ति करने में स्वतन्त्र और अधिकारी है।

राष्ट्रपति की ओर से ऐसे प्रबन्ध और घोषणाएं की जानी चाहियें कि जैसे शुक्र नीति में उपलब्ध होती हैं—

"न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव च
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः ॥
ब्रह्मणस्तु समुत्पन्नाः सर्वे ते किं नु ब्राह्मणाः ॥ १ ॥
न वर्णतो न जनकाद् ब्राह्मणतेजः प्रपद्यते।
ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधने रतः ॥
शान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणश्च गुणैः कृतः ॥ २ ॥
लोकसंरक्षणे शूरो दान्तः पराक्रमो।
दुष्टनिग्रहशीलो यः स वै क्षत्रिय उच्यते ॥ ३ ॥
क्रयविक्रयकुशला ये नित्यञ्च पण्यजीविनः।
पशुरक्षाकृषिकारास्ते वैश्याः कीर्तिता भुवि ॥ ४ ॥
द्विजसेवार्चनरताः शूराः शान्ता जितेन्द्रियाः।
सीरकाष्ठतृणवहास्ते नीचाः शूद्रसंज्ञकाः ॥ ५ ॥
त्यक्तस्वधर्माणो निर्घृणाः परपीडकाः।
चण्डाश्च हिंसका नित्यंम्लेच्छास्ते ह्यविवेकिनः ॥ ६ ॥

(शुक्रनीति० । १ । ३८—४४)

† "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।........"(यजु० २६।२)

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और म्लेच्छ जन्म से नहीं होते किन्तु यह भेद गुण-कर्मों के कारण से है। ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण यदि ब्राह्मण संज्ञा हो तो सभी जन ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। वास्तव में माता पिता के वर्ण या किसी कुल में जन्मने से ब्राह्मण तेज उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत ज्ञान, कर्म और उपासना के अन्दर रत, शान्त, दमनशील और दयालु पुरुष ब्राह्मण कहलाता है। प्रजा संरक्षण में चतुर, शूरवीर, दमनशील, पराक्रमी और दुष्ट-नाशक जन ही क्षत्रिय समझा जाता है। क्रय-विक्रय में निपुण, व्यापार तथा पशुरक्षा और खेती करने वाले मनुष्य वैश्य कहलाते हैं। द्विज-सेवापरायण, शूरवीर, शान्त, जितेन्द्रिय, पत्थर, जल काष्ठ तृण आदि का भार उठाने वाले जन शूद्र हैं। पूर्वोक्त धर्माचरणों से रहित, निर्दयी, परपीड़क, क्रूर और हिंसक लोग म्लेच्छ कहलाते हैं।

महाभारत के अन्दर भी विदुरजी का कथन है कि आचार से पतित मनुष्य को वंश के कारण ही उत्तम नहीं कहा जा सकता किन्तु नीच कुलों में भी उत्पन्न हुए जिनका धर्माचरण ही विशेष माना जाता है†। मानव-धर्म शास्त्र के अन्दर तो जाति की पदवी आचार्य की ओर से देने का विधान है। जन्म से जाति का स्वीकार नहीं‡।

प्राचीन सूत्रग्रन्थों में तो शूद्रों तक का भी उपनयन संस्कार करना लिखा है। पारस्कर आचार्य का मत है कि सुकर्मी शूद्रों का उपनयन करना चाहिये*।

† "न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः। अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते" (विदुरनीति० १। २। ४१)

‡ आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजराऽमरा" (मनु० २। १४८)

* "शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्" (पारस्करगृह्यसूत्र २। ६०)

भारद्वाज कहते हैं कि रथकार (शूद्र) का वर्षा ऋतु में उपनयन करना चाहिये†। क्योंकि शिल्प-वृत्ति का विधान शूद्र के लिये है‡। अतः सामाजिक उन्नति के लिये गुणकर्मों के आधार पर वर्णव्यवस्था का स्वीकार करना और प्रत्येक को योग्यता-वृद्धि का पूर्णाधिकार देना अत्यन्त आवश्यक है। साथ में एक और बात ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार वैयक्तिक शरीर के अन्दर रोग, शक्ति-ह्रास के कारण और उन्नति में बाधक हैं एवं समाज-रूपी शरीर के अन्दर मद्य अफीम आदि मादक वस्तु का सेवनरूप दुर्व्यसन, अपात्रदान, बिरादरी के अनुचित बन्धन, अपव्यय (फ़जूल खर्ची) चरित्रहीनता, बालविवाह आदि कुप्रथाएं सामाजिक जीवन की उन्नति में बाधक और उसके गिराने के हेतु हैं। इसलिये सामाजिक जीवन की उन्नति के पूर्वोक्त सभी नियमों और साधनों का सेवन करना परमावश्यक है। बिना उक्त साधनों के उन्नति तो क्या समाज की स्थिरता ही असम्भव है। अस्तु।

---

† "वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे हेमन्ते वा राजन्यं शरदि वैश्यं वर्षासु रथकारम्" (भारद्वाजगृह्यसूत्र १।१)

‡ "शिल्पवृत्तिश्च शूद्रः" (गौतमधर्मसूत्र २।१।६२)

भारद्वाज कहते हैं कि रथकार (शूद्र) का वर्षा ऋतु में उपनयन करना चाहिये‡। क्योंकि शिल्प-वृत्ति का विधान शूद्र के लिये है‡। अतः सामाजिक उन्नति के लिये गुणकर्मों के आधार पर वर्णव्यवस्था का स्वीकार करना और प्रत्येक को योग्यता-वृद्धि का पूर्णाधिकार देना अत्यन्त आवश्यक है। साथ में एक और बात ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार वैयक्तिक शरीर के अन्दर रोग, शक्ति-ह्रास के कारण और उन्नति में बाधक हैं एवं समाज-रूपी शरीर के अन्दर मद्य अफीम आदि मादक वस्तु का सेवनरूप दुर्व्यसन, अपात्रदान, बिरादरी के अनुचित बन्धन, अपव्यय (फ़जूल खर्ची) चरित्रहीनता, बालविवाह आदि कुप्रथाएं सामाजिक जीवन की उन्नति में बाधक और उसके गिराने के हेतु हैं। इसलिये सामाजिक जीवन की उन्नति के पूर्वोक्त सभी नियमों और साधनों का सेवन करना परमावश्यक है। बिना उक्त साधनों के उन्नति तो क्या समाज की स्थिरता ही असम्भव है। अस्तु।

———

‡ "वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे हेमन्ते वा राजन्यं शरदि वैश्यं वर्षासु रथकारम्" (भारद्वाजगृह्यसूत्र १।१)

‡ "शिल्पवृत्तिश्च शूद्रः" (गौतमधर्मसूत्र २।१।६२)

तृतीय स्थान

राष्ट्रीयता

राष्ट्रोदय के लिये राजा और प्रजा की ओर से प्रयत्न होना राष्ट्रियता है। राजा का उत्तरदायित्व इसमें विशेष है, क्योंकि "यथा राजा तथा प्रजा" का एक निश्चित सिद्धान्त है। राजा यदि उत्तम गुण सम्पन्न, प्रजाहितैषी, न्यायशील और हर प्रकार से योग्य तथा राष्ट्र-उन्नति का इच्छुक हो तो निःसन्देह प्रजा भी कार्यकुशल, राजभक्त, सन्तुष्ट, विद्याप्रिय और राष्ट्रसेवा में तत्पर हो सकती है।

राष्ट्रिय उन्नति के सम्बन्ध में अनेक देशभक्त विद्वानों ने निज पुस्तकों में प्रकाश डाला हुआ है। अतः अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है तथापि इसके सम्बन्ध में वैदिक सिद्धान्त की कुछ बातें लिख देना उचित समझता हूँ।

जिस प्रकार किसी परिवार के अन्दर एक गृहपति धार्मिक सुविद्वान् व्यवस्था आदि में कुशल होने पर परिवार की रक्षा आदि में समर्थ हो सकता है, तथा पारिवारिक जन भी गृहपति की अनुमति के अनुसार सर्वप्रकार से योग्य होते हुए यथेष्ट सुखी रह सकते हैं, परिवार के निर्वाहार्थ आवश्यक अन्नादि वस्तुएं और निवासार्थ गृह आदि सामग्री होनी अत्यन्त उचित हैं, ठीक इसी प्रकार राष्ट्ररूपी महत् परिवार संचालन के लिये सुयोग्य राष्ट्रपति और उत्तम प्रजा तथा निर्बाध सुरक्षित अनुकूल भूप्रदेश की आवश्यकता है। अर्थात् राजा प्रजा और देश की व्यवस्थाएं ही राष्ट्रोन्नति के कारण हैं। वेद ने राष्ट्र-संचालन के सम्बन्ध में अनेक आदेश किये हैं प्रत्युत हम केवल दो चार मन्त्रों के द्वारा ही कुछ कथन करेंगे। सबसे पहली बात वेद हमें यह बतलाता है कि राजा

का निर्वाचन (Election) प्रजा की ओर से होना चाहिये अर्थात् प्रजा या प्रजा का प्रतिनिधि विद्वन्मण्डल (Parliament) जिसको राजा बनने के योग्य समझे उसका चुनाव करले।

"त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः। वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि शयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि।" (अथ० ३। ४। २)

ओ राजसूत्र के अधिकारी-राज्यशासन के योग्य महाभाग महानुभाव! तुझे राज्य के लिये प्रजाजन वरें—वरते हैं, निर्वाचित करते हैं—चुनते हैं तथा ये पांच प्रदिशाएं—चारों सीमावर्ती राष्ट्र और पांचवाँ अपना राष्ट्र भी वरते हैं—सब मिलकर निर्वाचित करते हैं, चुनते हैं। किसी भी शासक या प्रधान मन्त्री का निर्वाचन किसी भी राष्ट्र में या प्रत्येक राष्ट्र में प्रथम अपने राष्ट्र की जनता द्वारा हो; उनका वह सुमत (वोट) सुरक्षित रहे। पुनः चारों सीमावर्ती राष्ट्रों को उनके राजदूतों और अपने राष्ट्र अपने राजदूत (विदेश-मन्त्री) को भी साथ ले दूसरा निर्वाचन करे। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र के अपने दो सुमत (वोट) होंगे, एक प्रथम अपनी प्रजा का वह अपनी प्रजा की शान्ति के लिए, दूसरा सुमत (वोट) चारों सीमावर्ती राष्ट्रों के सहयोग से परस्पर सभी राष्ट्रों की शान्ति के लिये। यह ऐसा निर्वाचन विश्व पञ्चायत राष्ट्र निर्वाचन हुआ। इससे विश्व के समस्त राष्ट्र एक सूत्र में आबद्ध होकर प्रेम और शान्ति से रहेंगे।

२—राजा को राज्याधिकार प्राप्त करके अभिमत्त न होना चाहिये अपितु राष्ट्र संचालन को अपना कर्त्तव्य समझकर अपने नित्य और नैमित्तिक कर्मों से निवृत हो दिन रात राष्ट्रसंचालन आदि का ध्यान रक्खे। दिनचर्य्या का अनुष्ठान भी नियमितरूप से राजा करता रहे। तथा "स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः" (अथ० १। २१। १) राजा सदा प्रजा को सुख देने वाला, चोर, डाकू, दुष्ट प्राणियों का नाश

करने वाला, देश के अन्दर विप्लवकारक संग्रामों को वश करने वाला, अत्यन्त बलवान्, सेना बल से सम्पन्न, प्रत्येक आपत्ति को हटाने में अग्रसर, मद्यादि व्यसन से रहित, सोम आदि ओष-धियों का पान करने वाला और प्रजाजनों से मित्रतुल्य वर्तने वाला राजा राज्याधिकारी होता है।

३. राजा को प्रजाजनों में समदृष्टि रखनी चाहिये पक्षपात नहीं †। वही राजा चिरकाल तक और प्रतिष्ठा के साथ राज्य कर सकता है जो सदैव प्रजाजन के हित सम्पादन और राष्ट्रोन्नति में तत्पर रहता है। वस्तुतः प्रजा का हितैषी वही राजा समझा जाता है जिसके देश, ग्राम, तथा जङ्गल तक में प्रजापीड़क जन चोर आदि का भय न हो ‡।

४. "ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्" (अथ० ३।५।६।)

विद्या आदि सम्बन्ध में प्रजाजनों को अतियोग्य बनाने के लिये विविध विद्याओं के शिक्षक, शिक्षणालय और कलाभवन आदि बनाने चाहिये। बुद्धि सम्पन्न विद्वान्, विमान आदि यानों के बनाने वाले शिल्पी, दार्शनिक (Thinker-Philospher) और ऋषि महात्माओं का होना बड़ा आवश्यक है। यह एक संदेश वेद का है।

५. "उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति। परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते॥ (अथ० ५।१९।६)

जो क्रूर स्वभाव का राजा विद्वान् या संन्यासी को पीड़ा देता है उसका राष्ट्र अस्तव्यस्त हो जाता है। हां अत्याचार आदि से

---

† "समः प्रजासु स्यात्" (गौतम धर्म २।२।५)

‡ "क्षेमकृद्राजा यस्य विषये ग्रामेऽरण्ये वा तस्करभयं न विद्यते" (आपस्तम्ब० ४।८।१)

रहित जनपद भिक्षा मांगने वाले देश के अन्दर न रहने चाहिये बल्कि इसके लिये राजा को उचित है कि जिस ग्राम में ऐसे लोगों को भिक्षा दी जाती हो उस ग्राम को भी दण्ड देवे ॐ।

६—प्रत्येक प्रजाजन किसी भी कुल में क्यों न उत्पन्न हुआ हो उसके लिये विद्याध्ययन आदि द्वारा उन्नति करने का अधिकार और अनिवार्य शिक्षा-प्रबन्ध होना चाहिये। प्रजा को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि राजा तथा राजकार्य और राज्य की उन्नति में अपनी उन्नति है इसलिये राजद्रोही बनने की चेष्टा न करे। हां, प्रजा के अधिकारों की उपेक्षा जो राजा करे या प्रजा के दुःखों का प्रतिकार न करे उस ऐसे राजा का त्याग असहयोग आदि द्वारा कर देना चाहिये, ऐसा विदुरजी का आदेश है†।

७—"यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सह अग्निना" (यजु० २०। २५) जिस राष्ट्र या देश के अन्दर ब्राह्म-बल और क्षात्र-बल अर्थात् विद्या विज्ञान तथा धर्म की योग्यता और राजनीति, राजशासन तथा सैनिक बल की योग्यता साथ साथ हों वही राष्ट्र या देश पुण्य, सुखमय और विद्या-सम्पन्न बन सकता है। अतएव राष्ट्र के अन्दर विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा की स्थापना होनी चाहिये एवं तीनों सभाएं मिलकर राष्ट्र संचालन करें। निज देश में उत्पन्न हुए पदार्थों और गौ आदि प्राणियों की रक्षा तथा वृद्धि करना भी राष्ट्र की उन्नति का निमित्त है। इस प्रकार भिन्न भिन्न विद्याओं के विद्वानों का होना राष्ट्रोन्नति में सहायक है तथा विविध शस्त्रास्त्रादि आयुधों और उनसे युक्त सैनिक वीर पैदा करने की आवश्यकता है। तथा सेना विभाग के अन्दर भी "समितिः समानी"

ॐ "अव्रता ह्यनधीयाना यत्रभैक्षचरा द्विजाः। तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः"

† "अरक्षितारं राजानं जह्यात्" (विदुरनीति)

(ऋ० १०। १६१। २) प्रत्येक सैनिक का वेश (ड्रेस) और शस्त्र समान हो, उनका किसी भी क्षेत्र में प्रपतन एक हो, चाल एक हो, आक्रमण और वाणी की ललकार एक हो, शस्त्र प्रहार समान हो।

९—राष्ट्र-भाषा की एकता भी राष्ट्रोन्नति का हेतु है। जो भाषा राष्ट्र के अन्दर सर्वत्र सुगमता से प्रयुक्त की जा सके वह राष्ट्र-भाषा होनी चाहिए। भारतीय प्रजा को आर्य भाषा (हिन्दी—हिन्दुस्तानी) राष्ट्रभाषा बनानी चाहिये यही भाषा भारतवर्ष में अधिक वर्ती जाती है। न केवल भारत में ही किन्तु दूसरे देशों में भी थोड़ी बहुत बोली जाती है और सब में सरल तथा सब प्रान्तों में एक जैसे अल्प प्रयत्न से आ सकने वाली है। अस्तु। यह राष्ट्रोदय के सम्बन्ध में संक्षेप से वर्णन समझें अधिक जानने के लिए वेद, मनुस्मृति, कौटिल्यार्थशास्त्र, शुक्रनीति आदि ग्रन्थों को देखें।

———

चतुर्थ स्थान

विश्व-हित

जब कोई मानव-जीवन निज वासनाओं से तृप्त, और ऋषिपद का अधिकार प्राप्त करने योग्य हो जाता है तथा विश्वात्मा जगदीश देव की सङ्गति का अभ्यासी बन जाता है अपितु विश्वप्रेम, विश्वहित और विश्वसेवा के भाव उसमें दिन प्रतिदिन जागृत और उन्नत होते जाते हैं तब उसका अपना शरीर, उसकी विद्या और सारी बाह्य सम्पत्ति परोपकार के लिये हो जाती है। एवं विश्वहितैषी महापुरुषों का चिन्ह भी वस्तुतः यही है क्योंकि "परोपकाराय सतां विभूतयः"। ऐसे महानुभाव संसार के पथप्रदर्शक, परम माननीय आदर्श और आचार्य बनकर न केवल मनुष्य ही का किन्तु संसार के प्राणीमात्र का हित चिन्तन किया करते हैं अतएव "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानी समीक्षे" (यजु० ३६।१८) मैं मित्रदृष्टि से संसार के प्राणियों को देखूँ जैसे मित्र देखता है और उनके साथ वर्तूं, मैं किसी भी प्राणी का शत्रु नहीं हूँ तब मेरा भी कोई शत्रु कैसे ऐसे सद्भाव उसके आत्मा में स्थिर हो जाते हैं। "वसुधैव कुटुम्बकम्" संसार के प्राणीमात्र चाहे मनुष्य हो या पशु पक्षी आदि उन सब का मैं मित्र हूँ वे सब मेरे मित्र हैं। ऐसे उदार आत्माओं के प्रति संसार का प्रिय से प्रिय प्राणी (स्त्री आदि व्यक्ति) मोह का कारण नहीं बनता और न ही कोई सिंह आदि क्रूर जन्तु शोक का कारण बनता है "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (यजु० ४०।७) इस प्रकार अन्य प्राणियों की आत्मा को स्वतुल्य समझकर, निज सुख दुःख के समान उनके सुख दुःख का ध्यान रखते हुए उनकी दिनचर्या और जीवनचर्या

होती है। जहाँ प्राणीमात्र के हित का ध्यान होता है वहाँ मानव-जाति के लिये यह उनका स्वाभाविक कर्त्तव्य हो जाता है कि वे "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" (ऋ० ९।६३।५) संसार के मनुष्यमात्र को श्रेष्ठ, सच्चरित्र, पुण्यजीवन, विद्वान्, शिष्ट और धार्मिक बनाना चाहते हैं और इसके लिये पूर्ण प्रयत्न करते हैं। धन्य हैं ऐसे महानुभाव जो इस प्रकार परहितरूपी यज्ञ में अपने पुण्य जीवन की आहुति देकर विश्वहित और विश्वप्रेम का परिचय देते हैं। परमात्मदेव हमारे अन्दर यह सद्भाव उत्पन्न करे कि हम भी अपनी दिनचर्या वा जीवनचर्या में परहित, परोपकार तथा उदार—भाव, प्राणि-प्रेम और पर-सेवा करके पुण्यभाग् बनें तथा हमें इस बात का सदा ध्यान रहे कि "जन्म केवलमात्मार्थं नास्माकं जगतीतले" संसार के अन्दर हमारा जन्म केवल अपने लिये ही नहीं है किन्तु दूसरों की उन्नति में भी हम अपनी उन्नति समझें। विश्वहितैषी और विश्व में क्रान्ति के इच्छुक महानुभावों को उच्च शास्त्रीय मर्यादाओं के अनुसार वर्तने से ही सफलता प्राप्त हो सकती है। यदि आप भी विश्वहितपरायण होकर क्रान्ति करना चाहते हो तो धन्य है और ये ध्येय भी शुभ तथा पुण्यरूप है अतएव आप पूर्णरूप से विश्वहित के प्रेमी बनकर संसार में ऐसी क्रान्ति करें जिससे महापुरुषों की गणना में किसी समय आपका नाम प्रसिद्ध हो।

"शूरस्य दैवमनुकूलम्" जो मनुष्य अपने उद्देश्यपूर्ति में शूर दृढ़-निश्चयी कर्तव्यपरायण होते हैं उनके लिये सब कुछ अनुकूल हो जाया करता है।

पंचम स्थान

धर्म-चर्या

साम्प्रदायिकता के झगड़े धर्म नहीं हैं इनसे अलग रहना ही अच्छा है। साम्प्रदायिक भेदों ने संसार को बड़ी हानि पहुँचाई है। विशेषतः मानव जाति में परस्पर मिथ्यायुद्ध और वैमनस्य को उत्पन्न किया है। वास्तव में धर्म तो कुछ और है। संक्षेपतः जिन नियमों, उपायों या कर्त्तव्यों के द्वारा मनुष्यमात्र सांसारिक कल्याण अर्थात् शरीर, मन और आत्मा के स्वहित तथा परहित वा देहान्त के अनन्तर आत्मा की उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर सके वह ही धर्म है। धर्म-तत्व (धर्म-फिलासफी) का स्वरूप कणाद ऋषि ने यही बतलाया है। अतएव उक्त सिद्धान्त को धर्मांक नाम देकर इसकी चर्चा विभागशः आपके सम्मुख रखी जाती है।

धर्माचरण के चार विभाग किये जा सकते हैं जिनमें (१) दिनचर्या और जीवनचर्या (२) शिष्टाचार और सदाचार (३) वर्णव्यवस्था और आश्रम मर्यादाएं (४) सामान्य धर्म। इन बातों के सम्बन्धमें अन्य शास्त्रों, ग्रन्थों और आचार्यों ने सविस्तार वर्णन किया है अतः यहाँ संक्षेप से ही ग्राह्य भाग का प्रकाश करते हैं।

दिनचर्या और जीवनचर्या

सृष्टि के प्राणिमात्र में मनुष्य बुद्धि-जीवी है क्योंकि इसका सम्पूर्ण कार्य बुद्धि पर निर्भर है। जहां अनेक जीवनोपयोगी कार्यों और आवश्यकताओं को बुद्धि से सम्पादन करता है वहां अपना दैनिक कार्य-विभाग भी अनुकूल समयानुसार बनाता है और अपने जीवन का कोई एक ध्येय भी निश्चित करता है। अतएव

प्राचीन आर्यों और धर्मशास्त्रों ने भी इसके सम्बन्ध में मर्यादाएं निश्चित कीं। उनका आदेश है कि "ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत" (मनु० ४।९२) प्रातःकाल सूर्योदय से दो घण्टा पूर्व उठ शौच, दन्तधावन और स्नान द्वारा शरीर तथा इन्द्रियों के मलों को दूर करके स्वच्छ और एकान्त स्थान में मन की स्थिरता, आत्मचिन्तन और परमात्म-सङ्गति, सन्ध्योपासना द्वारा मन और आत्मा को विशुद्ध तथा उन्नत करे। प्रातः समय उक्त क्रिया से मल त्यागना अत्यन्त आवश्यक और लाभदायक है। कारण कि रात्रि के शयन में मनुष्य का शरीर ठहरे हुए जल-पात्र के समान हो जाता है अर्थात् जैसे किसी पात्र में मैला जल हो और उसको कुछ समय के लिये जब स्थिर रख दिया जाता है तब तृण आदि हलका मल पानी के ऊपर तर आता है और मिट्टी आदि भारी मल नीचे बैठ कर बीच में स्वच्छ जल रह जाता है जिसको युक्ति से पृथक् करके उपयोग में ले सकते हैं। एवं शरीर के अन्दर रसादि का अच्छा और बुरा अंश रात्रि में सोने से अलग अलग विभक्त हो जाता है, अर्थात् शरीर का हलका मल नेत्र नासिका मुखादि द्वारा ऊपर चढ़ आता है और भारी मल मूत्र-पुरीष के रूप में नीचे चला जाता है। नाभि और हृदय के अन्तर्गत प्रदेश में स्वच्छ रस रह जाता है। ऊपर नीचे के दोनों प्रकार के मलों को त्याग देना चाहिये। शेष रहे शुद्ध रस का रक्त आदि परिपाक होता है जो शरीर में रुधिर, मांस, मज्जा, और वीर्य आदि धातुओं के रूप में परिणत होकर शरीर-यात्रा का हेतु बनता है। प्रतिकूल इसके जो लोग प्रातःकाल बिस्तर से उठते ही इधर उधर के व्यसनों या कामों में लग जाते हैं वे मानो रात्रि भर के ठहरे हुए शरीररूपी पात्र को हिलाकर रस और मल को गड़बड़ा देते हैं; जो स्वास्थ्य बिगाड़ने, रक्त, वीर्य और बुद्धि आदि में दोषों के प्रवेश का निमित्त बनता है। अतः प्रातःकाल सबसे प्रथम मल त्यागना प्रत्येक मानव व्यक्ति के लिये प्रथम कर्तव्य है। इसमें कदापि आलस्य और प्रमाद नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार स्नान करने से भी शरीर के ऊपर का मल दूर होता है तथा शरीर के सूक्ष्म छिद्रों के खुल जाने से अन्दर से वाष्प के रूप में मल बाहिर निकलता है और वह स्वास्थ्य-रक्षा का कारण बनता है। प्रत्येक डाक्टर और वैद्य की सम्मति स्नान के सम्बन्ध में यही है। एवं बाह्य शुद्धि के उपरान्त सन्ध्योपासन-द्वारा मन की स्थिरता, आत्मचिन्तन और ब्रह्मसङ्गतिरूप आन्तरिक शुद्धि भी करनी अनिवार्य है। मनु महाराज बतलाते हैं कि मनुष्य जब प्रातःकाल संध्या करता है तब रात्रि भर के कल्मश को दूर करता है अर्थात् सोते समय नाना प्रकार के उचित या अनुचित स्वप्न और वर्तन आदि द्वारा मन या आत्मा पर जो अनुचित या प्रपञ्चरूप संस्कार पड़ गये हैं उनका सन्ध्योपासना से क्षालन, मार्जन और शोधन हो जाता है। सायंकाल के सन्ध्योपासन से दिन भर के कल्मश अर्थात् दिन भर सांसारिक नानाविध कार्यों तथा भिन्न भिन्न व्यक्तियों के सहयोग सम्पर्क और अन्य प्रपञ्चों के संस्कार मन और आत्मा पर पड़ जाते हैं तथा चञ्चलता व्याकुलता के भाव आ जाते हैं उनका दूरीकरण सायंकाल की सन्ध्योपासना से होता है। इसके अतिरिक्त मानसिक और आत्मिक विकास के लिये मुख्य साधन है अतः सन्ध्योपासना करना भी अत्यावश्यक है। इसके पश्चात् यथासम्भव थोड़ा बहुत स्वाध्याय यानि धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिये। तदनन्तर आश्रम और अन्य कृत्यों की अनुकूलता से पूरे दिन की दिनचर्या बना लेनी चाहिये। जो समय जिस कार्य के लिये निश्चित किया हो उस समय में वही कार्य करना उचित है इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये। जिस प्रकार अपनी दिनचर्या को निश्चित किया एवं निज जीवन का कोई ध्येय भी निश्चित कर लेना चाहिये। ध्येय के बिना जीवन निष्फल ही नहीं किन्तु पतित हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि जिस यात्री ने अपना गन्तव्य (जाने का) स्थान निश्चित नहीं किया उसकी दो ही अवस्थाएं हो सकती हैं या तो वह

निरन्तर चलता ही रहेगा एवं यात्रा की निष्फलता है अथवा कहीं मध्य में ही रहकर यात्रा से पतित हो जावेगा। अतएव मानव-व्यक्ति को अपना कोई ध्येय अवश्य बना लेना चाहिये, जिसको देहत्याग से पूर्व प्राप्त कर सके या उसमें थोड़ा बहुत सफल हो सके। मानवीय जीवन का ध्येय अपनी अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार निश्चय करना चाहिये और वह ध्येय इस जन्म तथा परजन्म के लिये श्रेयस्कर सिद्ध हो। यह संक्षेपतः दिनचर्या और जीवनचर्या का शास्त्रीय वर्णन किया। बुद्धिमान् मनुष्य को ही स्वयं उपयोगी विस्तार करके अपने जीवन में घटाने का यत्न करना चाहिये। अस्तु।

शिष्टाचार और सदाचार

शिष्टाचार से अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शिष्ट जन वर्तते हों वैसा वर्तना। बौधायन धर्म-सूत्र में शिष्टों का लक्षण किया है कि—"शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहङ्कारा: कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिता:" (बौधायानधर्मसूत्र १।१।५) ईर्ष्या और अहङ्कार से रहित, उदार, शान्त तथा छल, अभिमान, लोभ, मोह और क्रोध न करने वाले जन शिष्ट कहाते हैं। इनके अनुसार वर्ताव करना ही शिष्टाचार है; इसी को दूसरे शब्दों में सभ्यवर्ताव भी कहते हैं। हमारा जो भी बाहरी वर्ताव होता है चाहे वह व्यक्तिगत हो या पारिवारिक अथवा सामुदायिक, वह सब शिष्टाचार के नाम से समझा जाता है।

वैयक्तिक शिष्टाचार—व्यक्तिगत शिष्टाचार के सम्बन्ध में गौतमाचार्य और वसिष्ठ मुनि ने अपने धर्म ग्रन्थों में उपदेश किया है कि—

"छेदनभेदनविलेखनविमर्दनावस्फोटनानि नाकस्मात्कुर्यात्"

(गौतम धर्म सूत्र अ० ९। सू० ५०)

"न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो भवेत्। न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः" (वासिष्ठ धर्म०। १६। ४२)

खाली बैठे बैठे मनुष्यों को अनावश्यक चेष्टाएं सूझा करती हैं जिनका निषेध इन सूत्रों में किया गया है। अर्थात् बिना आवश्यकता के तृण आदि पदार्थों का तोड़ना अथवा किसी चीज़ का फोड़ना, भूमि आदि को कुरेदना, स्वाङ्ग मर्दन या पराङ्ग-पीड़न और अनुचित ध्वनि आदि करना बुरा है। किन्हीं लोगों को बारम्बार हाथों और पैरों के हिलाने की टेव होती है, कुछेक जन नेत्रों से चञ्चलता करते रहते हैं, बहुतेरे महानुभाव निष्प्रयोजन, अप्रासङ्गिक और अधिक प्रलाप किया करते हैं, और अनेक लोग अङ्गविकार या शरीर को चञ्चल करते रहते हैं। यह सब अशिष्ट व्यवहार है जो सभ्य लोगों को न करना चाहिये।

पारिवारिक शिष्टाचार—परिवार में यथायोग्य वर्तना भी सभ्यता है। माता पिता आदि वृद्ध जनों का मान, तुल्य और सहयोगी मित्रों के साथ सहानुभूति तथा छोटे भाई बहिन या सन्तानों के प्रति प्रेम और दया के साथ उत्तम शिक्षाप्रद वर्ताव करना पारिवारिक शिष्टाचार कहाता है।

सामुदायिक शिष्टाचार—विवाह आदि शुभावसरों पर परस्पर 'स्वागतम्' और 'शुभं भवतु' की ध्वनि करना शिष्टाचार है। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में इसका ऐसा व्यवहार और प्रतिपादन किया है। सभासम्मेलन और उत्सव आदि अवसरों पर उचित वर्ताव सामुदायिक शिष्टाचार कहलाता है। ऐसे अवसरों में प्रवेश करने से पहिले अपने सारे अङ्गों और वस्त्र आदि उपकरणों का निरीक्षण (पड़ताल) कर लेना चाहिये अर्थात् शिर स लेकर पैर तक अथवा बाह्य अङ्ग पर किसी प्रकार का मलसम्पर्क तो नहीं है। जल तथा वस्त्र आदि से उनका उचित शोधन, और आच्छादन कर लेना चाहिये और यदि सम्भव हो तो मल मूत्र के त्याग से भी निवृत्त हो जाना उत्तम है। अपने पहने हुए सभी वस्त्रों पर एक बार दृष्टिपात करना चाहिये कि कोई वस्त्र किसी प्रकार से मलिन, फटा हुआ तथा अव्यस्थित तो नहीं है। नंगे शिर होने पर शिखा

आदि की व्यवस्था का ध्यान होना चाहिये कि बिखरी हुई तो नहीं है। पुनः सम्मेलन आदि में प्रवेश-समय सावधानता से काम लेना चाहिये। प्रवेश द्वार से अन्दर जाना और अपने योग्य उचित स्थान पर बैठना, ऐसा न हो कि किसी बड़ी जगह पर बैठ जावें पुनः पीछे से उठना पड़े अथवा वह स्थान किसी निश्चित वर्ग कुमारों या स्त्रियों का न हो। सभा आदि में बैठकर भी खांसी, जम्भाई, अपानवायु आदि से दूसरे की हानि न हो या दूसरे को बुरा प्रतीत न हो अतएव रूमाल आदि को मुख के सामने रख लेना अथवा सम्भव हो तो उठकर बाहर चले जाना चाहिये। मध्य में बोलना वा किसी प्रकार उपहास करना सर्वथा अनुचित है। साधु संन्यासियों तथा मान्य व्यक्तियों के सम्मुख नम्र रहना, अल्प बोलना, किसी का उपहास न करना, यथासम्भव उच्चासन देना, प्रथम नमस्ते करना आदि भी शिष्टाचार कहाता है।

सदाचार—पूर्वोक्त शिष्टाचार की बातों का सदाचार के साथ भी सम्बन्ध है तथापि सत्पुरुषों धर्माचार्यों और ऋषियों के आदेशानुसार आचरण करना सदाचार कहाता है। गौतम धर्मशास्त्र में इस बात का वर्णन किया है कि मनुष्य को किन महानुभावों का आदेश मानना चाहिये "यद्यात्मवन्तो वृद्धाः "सम्यग्विनीता दम्भलोभमोहवियुक्ता वेदविदा आचक्षते तत्समाचरेत्" (गौतमधर्म ९।६२) ईश्वर के उपासक, आयु में बड़े, विनय धर्म से युक्त, कपट लोभ और मोह से रहित, वेद के जानने वाले विद्वान् जन जिस बात का उपदेश करें उसका आचरण करना चाहिये। वेद और शास्त्रों में उपदिष्ट सत्यभाषण, वीर्य-रक्षा और मन का संयम आदि सद्-व्यवहारों को भी सदाचार कहते हैं। मनुष्य की सच्ची शोभा और उन्नति सदाचार पर निर्भर है। मनु महाराज का कथन है कि सदाचार ही वस्तुतः परम धर्म है। बड़े से बड़ा विद्वान् भी यदि सदाचार से गिर चुका हो तो वह अपनी विद्या का उत्तम फल कदापि प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्युत सदाचार से युक्त होकर ही

सम्पूर्ण फल का भागी बनता है। अतः अपने और दूसरे के कार्यों को करते हुए शिष्टाचार और सदाचार को कभी न भूलना चाहिये।

वर्णाश्रम

यद्यपि सामाजिक जीवन के प्रकरण में वर्णधर्म के विषय में पर्याप्त कह दिया है तथापि यहाँ धर्मचर्या का भाग होने से कुछ बातों पर संक्षेपतः वर्णन किया जायगा और अधिकांश आश्रम धर्म के सम्बन्ध में होगा।

वर्ण—वर्ण-धर्म के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है कि जो भी अपने को ब्राह्मण बनाना चाहता है अथवा ब्राह्मण कहने का अभिमान करता है उसको चाहिये कि वह स्वयं वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों का अध्ययन करे तथा दूसरों को करावे। दैनिक अग्निहोत्र आदि यज्ञ करे और करावे। अपनी जीवनयात्रा को शुभ बनाने के लिये पवित्र दान को लेना और देना चाहिये। जो अपने आपको क्षत्रिय बनाना चाहता है अथवा क्षत्रिय कहने का अभिमान करता है उसको चाहिये कि वह वैदिक शिक्षा और धनुर्विद्या (शस्त्रास्त्रविद्या) को सीख कर विद्वानों की सेवा, सङ्ग, और अग्निहोत्रादि यज्ञों का अनुष्ठान करता हुआ प्रजारक्षण में तत्पर और उचित कर लेकर राज्यव्यवस्था तथा सत्पात्र-दान किया करे। इसी प्रकार जो अपने आपको वैश्य बनाना चाहता है उसको भी वेदाध्ययन अवश्य करना चाहिये और यज्ञानुष्ठान, दान देना तथा पशुपालन, कृषि और व्यापार आदि के द्वारा निर्वाह करना चाहिये। जो मनुष्य उपर्युक्त तीनों वर्णों में से किसी का भी आचरण नहीं कर सकता हो प्रत्युत इन से भिन्न यानि शूद्र अपने आपको बनाना चाहता हो उसको चाहिये कि वह ऊपर कहे तीनों वर्णों की सेवा, सिल्प अथवा खेती से भी अपनी आजीविका कर सकता है। उक्त कार्य करते हुए यदि वह वेदाध्ययन में रुचि रखता है तो अवश्य पढ़े। स्वव्यवहार-सम्बन्धी अथवा अन्य आवश्यक

विद्याओं को भी पढ़े। शूद्रों को वैदिक-शिक्षा अध्ययन करने के लिये वेद और प्राचीन आचार्यों की आज्ञा भी है। अतएव शूद्र लोग यज्ञ भी कर सकते हैं। अभिप्राय यह है कि शूद्र यदि अपनी आजीविका आदि कार्यों को करता हुआ उन्नति करना चाहे तो कर सकता है। मनुष्य जिस वर्ण के योग्य अपने आपको समझे अथवा जिधर रुचि रखता हो वैसा अपने आपको बना सकता है। वर्ण के वरने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य की अपनी योग्यता, शक्ति, प्रवृत्ति और रुचि के ऊपर निर्भर है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र और मनुस्मृति धर्मशास्त्र का सिद्धान्त यही है। वस्तुतः मनुष्य-जीवन की स्वतन्त्रता का फल भी यही है कि वह अपने आपको चाहे जितना योग्य बना सके।

आश्रम—आश्रम चार हैं ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्राचीन आचार्यों ने मानवीय जीवन की चार अवस्थाएं मानी हैं। स्वाभाविक दृष्टि से मनुष्य से भिन्न प्राणियों और वृक्ष आदि वनस्पतिवर्ग की भी उक्त चार अवस्थाएं होती हैं। जिनमें प्रथम 'शक्ति—सम्पादन' अर्थात् छोटी अवस्था में शक्तियों का सञ्चय करना। मानवीय जीवन में इसको 'ब्रह्मचर्याश्रम' कहते हैं। (२) 'उचित व्यय' अर्थात् पूर्व अवस्था में जो शक्तियां प्राप्त करी हैं इस दूसरी अवस्था में उनके आवश्यक व्यय से परिणाम तथा फल और गुणों का प्रकाश करना। मानव शरीर में इसका नाम 'गृहस्थाश्रम' है। (३) 'विरति' अर्थात् द्वितीयावस्था में शक्तियों के व्यय कर देने पर उनके ह्रास आदि के अनुभव से उपेक्षा वा अनुपयोग होना कहाता है। मनुष्य जीवन में इसको 'वानप्रस्थाश्रम' कहते हैं। (४) 'त्याग' जो कि अन्तिम अवस्था है। अपने जीवन का लाभ स्वप्रयोजन न रखते हुए परार्थरूप बन जाना है। मनुष्य जीवन में इसका नाम 'संन्यासाश्रम' है। एवं मानव जीवन में इन अवस्थाओं का संक्षेपतः स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जाता है कि (i) ब्रह्मचर्याश्रम

में शरीर और सब प्रकार की धातुओं की रक्षा करते हुए विद्याध्ययन करना (ii) गृहस्थाश्रम में नित्य और नैमित्तिक कर्मों का सेवन तथा धर्म से सन्तानोत्पत्ति और पालनादि करते हुए जीवन को उपयुक्त बनाना (iii) वानप्रस्थाश्रम में सांसारिक मोह और बन्धनों का त्याग करते हुए धार्मिक ग्रन्थों का पढ़ना पढ़ाना (iv) संन्यासाश्रम के अन्दर उपासना द्वारा अपने जीवन को परमात्मा के अर्पण करना तथा धर्मोपदेश द्वारा मानवीय प्रजा का हित चाहना। अतः चारों आश्रमों के प्रकार और कर्तव्य कर्मों का वर्णन मनु आदि अनेक धर्म-शास्त्रों में किया है। अधिक जानने वालों को वहां से ही देख लेना चाहिये। प्रत्युत यहाँ विशेष बातों का ही संकेत किया जायगा।

ब्रह्मचर्य—विद्याध्ययन के लिये शिष्य गुरु के सम्मुख जाकर प्रार्थना करता है "का त उपेतिर्मनसो वराय भुवदग्ने शन्तमा का मनीषा। को वा यज्ञैः परिदक्षं त आप केन वा ते मनसा दाशेम॥ (ऋ० १।७६।१) हे विद्या से प्रकाशमान गुरुदेव ! आपके मनोरथपूर्ति के वास्ते मैं किस भेंट को आपकी सेवा में रखूं। आपकी शान्ति के लिये मैं किस अनुकूल बात का आचरण करूं तथा आपके पास अध्ययन करके उत्तम कर्मों द्वारा किस प्रकार के योग्य विद्वानों ने आपको तृप्त किया है और किस उद्देश्य को लेकर हम आपकी सेवा में अपने आपको अर्पण करें। पुनः आचार्य की ओर से "अन्ते वासिनां योगमिच्छन् जपति ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि ब्रह्म वदिष्यामि। ओ३म् भूर्भुवः स्वरिति त्रिः सावित्रीमधीते" (वाराहगृह्यसूत्र)।

शिष्यों को पढ़ाने की इच्छा से प्रेरित होकर आचार्य प्रतिज्ञा करता है कि मैं वेद का उपदेश करूंगा, सत्यव्यवहारों का उपदेश करूंगा, ब्रह्मविद्या का उपदेश करूंगा। वस्तुतः शिष्य के प्रति आचार्य का यही कर्तव्य है। तथा आचार्य की सेवा में रहते हुए

इन्हीं तीन बातों की शिक्षा का ग्रहण करना ब्रह्मचर्य जीवन का उद्देश्य है। यही बात ब्रह्मचर्य शब्द से भी प्रकट है, ब्रह्म अर्थात् वेद, सत्याचरण (वीर्य रक्षादि कर्म), और ईश्वर इन तीनों का सेवन जिस व्रत, काल और उपाय से किया जाता है उस व्रत, काल और उपाय को ब्रह्मचर्य-व्रत, ब्रह्मचर्य-काल और ब्रह्मचर्योपाय कहते हैं तथा जो इन सबके अनुष्ठान का कारण वीर्य-रक्षा है उसको भी ब्रह्मचर्य कहते हैं, क्योंकि पुरुष का पुरुषत्व यानि साररूप वीर्य वस्तु सुरक्षित रहता हुआ मस्तिष्क की ओर गति करता है और ओज के रूप में वहां स्थिर हो जाता है। उसी से वेद विद्याओं की प्राप्ति, सत्य व्यवहारों का आचरण और ईश्वर-सङ्ग किया जाता है। अतः उक्त तीन बातों के शिक्षण के लिये आचार्य की ओर से प्रतिज्ञा करने का विधान अत्यावश्यक है। इस प्रकार प्रतिज्ञा के साथ ही गायत्री मन्त्र के द्वारा वेदोपदेश का प्रारम्भ करता है और यथावसर सत्यव्यवहारों तथा ईश्वर का भी उपदेश देता है।

वीर्यरक्षा और विद्या प्राप्ति के उपायों का आचरण करना ही ब्रह्मचारी के सत्यव्यवहार और कर्त्तव्य कहलाते हैं।

(प्रश्न)—वीर्य-रक्षा के उपाय क्या हैं?

(उत्तर)—उचित दिनचर्या जिसमें भोजन, वर्तन और शयन मुख्य तीन विभाग हैं। सामान्य दिनचर्या का वर्णन किया जा चुका है। उसके साथ साथ ब्रह्मचारी के लिये जो विशेष दिनचर्या के नियम होने चाहियें उन्हीं का इस समय संकेत किया जाता है।

भोजन—ब्रह्मचारी का भोजन क्षार (अधिक लवण सोडा आदि) से रहित, शुक्त रहित (खटाई आदि रहित) और अति-तीक्ष्ण लाल मर्ची आदि से रहित। बासी और अत्यधिक भोजन न करना चाहिये। रूखा और शुष्क अन्न भी न खाना चाहिये। कषाय और विरेचक द्रव्यों का सेवन भी न करे किन्तु शुद्ध, सात्विक और पुष्टि-कारक वस्तुओं का सेवन करना चाहिये

क्योंकि भोजन का प्रभाव वीर्य आदि धातुओं पर पड़ता है। अनुचित आहार से उक्त धातुओं का ह्रास होता है और उत्तम खान-पान से वीर्य आदि धातुओं में सात्विकता, वृद्धि पौष्टिकता और उन्नति होती है अतएव "आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः" (छान्दो० ७। २६। २) शास्त्रों का सिद्धान्त है।

वर्तन—वर्तन के सम्बन्ध में प्रायः सभी आचार्यों ने ब्रह्मचारियों को आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहने का आदेश किया है जिनके नाम इस प्रकार हैं "स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः विपरीतं ब्रह्मचर्यं एतदेवाष्टलक्षणम् ॥" (सुश्रुत) स्त्री का ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिंगन, एकान्तवास और समागम यह आठ प्रकार के मैथुन हैं। इन मैथुनों से जो अलग रहता है वह ब्रह्मचारी कहाता है।

२—सत्यार्थप्रकाश में ऋषि दयानन्द वीर्यरक्षा की रीति का आदेश करते हुए लिखते हैं कि "मिथ्या बातों के उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदय में डाल देवें कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रम जाल में पड़ के दुःख न पावें और वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने में दुःख प्राप्ति भी जना देनी चाहिए, जैसे देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त-सेवन, सम्भाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक, महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रम आदि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम

लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा।"

३—मानव गृह्य-सूत्र का उपदेश है कि "न रूप्यर्थं किंचन धारयीत" (मानव गृ० सू० १ । १ । १०) ब्रह्मचारी को केवल वेश-भूषा (फ़ैशन) के लिये किसी भी वस्तु का धारण नहीं करना चाहिये। इसका अभिप्राय है कि जब ब्रह्मचारी वेश-भूषा के धारण में शृङ्गार-प्रिय हो जावेगा तो निःसन्देह अपने मन को चंचल बनाकर पतित हो सकता है, अतः साधारण योग-क्षेम के लिये आच्छादन आदि विधि का सेवन करना चाहिये।

४—वाराह गृह्यसूत्र में लिखा है कि "अच्छिन्नवस्त्रां विवृतां स्त्रियं न पश्येत्"। ब्रह्मचारी को चाहिये कि वह नंगी स्त्री को कभी न देखे। अन्य आचार्यों और विद्वानों का यह भी कथन है कि पुरुष को भी नंगा न देखा जावे तथा मैथुन करते हुए किसी भी प्राणी को देखना ब्रह्मचारी के वास्ते उचित नहीं है।

५—ऋषि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश में उपदेश करते हैं कि ब्रह्मचारी लघुशंका (पेशाब) के सिवाय अपनी उपस्थेन्द्रिय (मूत्रेन्द्रिय) को कभी स्पर्श न करें इसके स्पर्श और मर्दन से वीर्य की हानि होती है।

६—अश्लील-भाषण करना भी ब्रह्मचर्य व्रत का नाशक है। "चरित्रमतिशुद्धञ्च दुष्येताश्लीलभाषणैः (हितोक्ति)

७—ऋषि दयानन्द ने तैल मर्दन और घोड़े आदि की सवारी करने का भी निषेध किया है। इससे प्रतीत होता है कि ऐसा करने से वीर्य-रक्षक नाड़ियों और ग्रन्थियों पर सम्भवतः अनुचित प्रभाव पड़ता है।

८—आपस्तम्ब धर्मशास्त्र में ब्रह्मचारी को नम्र, शान्त, जितेन्द्रिय, अनुचित कार्य में लज्जा करने वाला, दृढ़ संकल्पी, क्रोधरहित और अनिन्दक बनने का उपदेश किया है।

९—ब्रह्मचर्यकाल में ही विद्या प्राप्ति की अधिक सम्भावना है अतः विद्याप्राप्ति सम्बन्धी कुछेक आवश्यक बातें भी समझा देना उचित है। "आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठीरेव च, स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च एते वै सप्तदोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः।" (महाभारत विदुरनीति) विद्यार्थियों को आलस्य, मादकवस्तु (नशीली चीज़), मोह, चंचलता, गोष्ठी (व्यर्थोपहास सभा), जड़ता, अभिमान और लोभ से सदा पृथक् रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त विद्याप्राप्ति के चार साधनों का सेवन करना चाहिये। जिनमें प्रथम विद्याध्ययनकाल, दूसरे स्वाध्यायकाल, तीसरे प्रवचनकाल और चौथे व्यवहार काल हैं। उक्त चारों साधनों द्वारा विद्यावृद्धि करना तथा इनकी विरोधी बातों को त्याग देना विद्यार्थियों का कर्त्तव्य है। इन चारों साधनों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार समझें कि प्रथम गुरु के सम्मुख सरल और नम्रभाव तथा सावधान मन बैठकर पूरे ध्यान से विद्या पढ़ना। दूसरे अध्ययन की हुई विद्या को किसी एकान्तादि स्थान में बैठकर विचारना, तीसरे पढ़ी और विचार की हुई विद्या को अध्यापन द्वारा दूसरे को देना, चौथे अपने सारे आचरण और व्यवहार विद्या के अनुसार बनाना।

शयन—काठक गृह्यसूत्र में ब्रह्मचारी को "पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी" सबसे प्रथम प्रातःकाल उठने और रात को सबके बाद लगभग १० बजे सोने का आदेश किया है जो ब्रह्मचर्यव्रत के लिये हितकर है।

२—मनु महाराज ने "एकः शयीत सर्वत्र" (मनु० २ । १८०) ब्रह्मचारी को सदा अकेला ही सोने का उपदेश दिया है यानि ब्रह्मचारी को किसी दूसरे के साथ सोना उचित नहीं है।

३—ऋषि दयानन्द संस्कारविधि में लिखते हैं कि "दिवा मा स्वाप्सीः" दिन में ब्रह्मचारी को सोना नहीं चाहिये। कारण स्पष्ट

है कि ब्रह्मचारी अगर दिन में सो जायगा तो रात्रि में नींद कम आयेगी क्योंकि प्रत्येक कार्य करने की शक्ति परिमित है, जब कुछ सोने की शक्ति का उपयोग दिन में हो चुका तो रात्रि को पूर्णरूप से नींद नहीं ले सकेगा पुनः अनुचित स्वप्नों में फँसकर हानि होने की आशङ्का है।

४—रात्रि को शयन से कम से कम डेढ़ घण्टा पूर्व भोजन या दूध पीना उचित है। सोते समय जल पीना भी ब्रह्मचारी के लिये हितकर नहीं है आवश्यकता होने पर जल पीकर आधा घण्टा पीछे सोना चाहिये। ब्रह्मचारी को दूध का सेवन प्रातःकाल करना अच्छा है सोते समय और शुद्ध मन तथा ईश्वर की स्तुति वा उत्तम विचारों के साथ सोना उचित है।

सामान्योपदेश—वीर्य शरीर के अन्दर एक सार पदार्थ है, जिस प्रकार दूध में घृत सार वस्तु है। जब दूध से घी निकाल लिया जाता है तो वह दूध निःसार हो जाता है पुनः उसके अन्दर पूर्व जैसे बल, शक्ति तथा पौष्टिकता आदि गुण नहीं रहते, उक्त छाछ-रूप निःसत्व दूध अग्नि पर रखने से कभी उभारी (उबाली) नहीं लेता, उसमें वह पूर्व जैसा वेग नहीं रहता। इसी प्रकार जिस शरीर या जीवन में वीर्यरूप तत्व नहीं रहता वह शरीर या जीवन भी किसी उन्नत कार्य में उत्साह और क्रान्ति नहीं कर सकता। न अपने मनोरथों के पूरा करने में स्वतन्त्रता से सफल हो पाता है। अपितु ऐसे जन सदा पदे पदे दुःख के भागी ही बनते हैं। अतः वीर्यरक्षा जीवनयात्रा के लिये अत्यन्तोपयोगी और अनिवार्य कर्त्तव्य है।

२—ब्रह्मचर्यावस्था एक प्रारम्भ की अवस्था है। इस अवस्था में कदाचित् अनुचित व्यवहार चाहे उस समय हानिकारक प्रतीत न हो प्रत्युत आगे चलकर पूर्णावस्था में वे पूर्व सेवन किये हुए दुर्व्य-वहार या अनियम अवश्य हानिकारक सिद्ध होंगे क्योंकि प्रथमा-

वस्था में प्रकृति का वेग होता है जो दूसरे सभी विघ्नों को सहन कर सकता है। जिस प्रकार नदी पर्वतों से उतरते समय अपने प्रारम्भिक वेग और बल के कारण सामने आये पत्थर और झाड़ आदि सभी मार्ग रोकने वाले पदार्थों को टकराती, ढकेलती या साथ लेती हुई बढ़ी चली जाती है पर जब वह नदी पर्वत-भूमि को छोड़ कर मैदान में आती है तो उसमें पहिले जैसे वेग या बल के न होने से प्रथम साथ लिये हुए पत्थर और झाड़ आदि उसके बहाव में बाधक हो जाते हैं, फिर नदी धीरे धीरे भूमि में रिसने लगती है। एवं इस मानव जीवन की बाल्यावस्था या ब्रह्मचर्यावस्था में जोकि वेगपूर्ण है, सेवन किये हुए अनियम और दुर्व्यवहार युवावस्था में विघ्न रूप से बाधक बनकर सामने आ खड़े होते हैं जिससे जीवनयात्रा अवनत होकर दुःखमय बन जाती है अतः ब्रह्मचर्यपालन आवश्यक कर्म है।

३—ब्रह्मचर्यकाल वृक्ष की भांति आरोहणकाल है। जिस प्रकार किसी फली वृक्ष के आरोहणकाल (छुटपन) में उसके अनुकूल खाद्य और रक्षा आदि व्यवस्था ठीक ठीक न होने से वह वृक्ष अपनी पूर्णावस्था में फल फूल और शोभा आदि से रहित होकर देखने में बुरा प्रतीत होगा एवं यदि किसी के घर में ऐसा वृक्ष खड़ा हो तो दर्शक उसके उखाड़ने की अनुमति देंगे। मनुष्य जीवन के आरोहण काल में यदि ठीक ठीक परिस्थिति या वर्तन नहीं हुआ तो निःसन्देह वह मनुष्य भी अपनी युवावस्था में कभी भी गुण और शोभा से युक्त नहीं बन सकता। उसके जीवन का लाभ न उसके लिये होगा न दूसरे के लिये। अपितु पश्चात्ताप ही करता हुआ जीवन काटता रहेगा। अतः ब्रह्मचर्यकाल में सुविचार, सदाचार और शुद्धाहार का सेवन करने की अत्यन्त आवश्यकता है। श्री भीष्मपितामह ब्रह्मचर्य बल पर शस्त्राशस्त्र से ताड़ित होता हुआ भी अनुकूल समय तक रणक्षेत्र में जीवित रहा। वर्तमान युग के

क्रान्तिकारी और युग-परिवर्तक ऋषि दयानन्द भी आदित्य ब्रह्मचारी होने के कारण संसार में हलचल मचा गये।

शास्त्र भी कहता है कि "ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः" अप्रतिघान् गुणान् प्राप्नोति (व्यास २।३) योगदर्शन में श्री पतञ्जलिमुनि और व्यासजी का कथन है कि ब्रह्मचर्य पालन से वीर्य, बल और उत्साह की प्राप्ति होती है जिससे उन्नतिशील गुणों को प्राप्त करता है। अस्तु।

आजकल युवक मण्डल में अनेक ऐसे युवक दिखलाई पड़ते हैं जो कि वीर्यक्षीणता के रोग में ग्रसित हैं अथवा अज्ञानवश वा कुसंगति से वीर्यनाश करके दिनरात व्याकुल और अशान्त हैं। अनेक बालक किन्हीं एक वीर्यनाशक व्यसनों में फँसे हुए हैं अथवा अपनी हानि को अनुभव करते हुए और ब्रह्मचर्य सम्बन्धी महत्व के उपदेश सुनते हुए सुधरना चाहते भी हैं किन्तु पुनरपि उन्हीं दुर्व्यसनों में मन चलता है और वे उस अपने पुरातन अभ्यास के कारण उक्त व्यसन-जाल से नहीं छूट पाते किन्तु उसमें फँसे ही रहते हैं। इस प्रकार दुरवस्था को प्राप्त रोगियों और दुर्व्यसनियों का सुधार तथा कल्याण जैसे हो सके ऐसे कुछ साधन, औषध और क्रियाएँ निम्न बतलाई जाती हैं :—

वीर्यनाशक रोगों के सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि स्वप्नदोष और प्रमेह यह मुख्य दो रोग हैं। हम इनके अधिक विवरण में नहीं जाना चाहते केवल इतना ही कहना है कि 'दुर्विचार, दुराहार, और दुर्व्यवहार' से स्वप्नदोष (सोते समय वीर्य का नष्ट होना) प्रमेह (जागृतावस्था में मूत्र से पहले या पीछे वीर्य का नाश होना) ये दो रोग हो जाते हैं। उक्त रोग जीवन घातक और दुःसाध्य हैं। इनकी चिकित्सा में डाक्टर और वैद्य भी बहुधा असफल ही रहते हैं क्योंकि इन रोगों का मूलकारण मनोविकार है। हम मनोविज्ञान आदि के आधार पर कुछ ऐसी क्रियाएँ बतलाते हैं जिससे उक्त रोग दूर हो सकें।

वीर्यनाश की चिकित्सा—एक तोला सूखे चने साफ़ करके और पानी में धोकर किसी मिट्टी के छोटे बर्तन में आध सेर जल में भिगोकर किसी खुली जगह में रात को रख छोड़ें। प्रातः-काल बिस्तरे से उठ ठंडे पानी का एक लोटा भर कर शौच के लिये ले जाएँ, शौच हो चुकने के बाद मलस्थान धोने से पहिले उस पानी में उपस्थेन्द्रिय को पांच मिनिट तक अन्दर रखें पुनः उस पानी से शौच-स्थान धोलें बाद दन्तधावन और स्नान करके किसी एकान्त, शान्त और स्वच्छ स्थान में आराम क साथ आसन लगा पांच मिनिट तक शान्त बैठें यानि आँखें बन्द करके मन में किसी भी प्रकार का बुरा या भला विचार न करें या विचारों को हटाते रहें पश्चात् पानी में भीगे हुए चनों का पानी फेंक दें और चनों को खा लेवें (यदि चने छीलकर खाये जायें तो अच्छा है किन्तु दाल न भिगाएं, छिलके सहित चने भिगोने चाहियें) ऊपर से एक दो ताज़े पानी के घूंट पीकर मुंह साफ़ कर लें। इस प्रकार एक सप्ताह तक प्रतिदिन इस क्रिया को करें साथ में खाने पीने का उचित पथ्य रखना चाहिये यानि मिर्च, खटाई, गुड़, तेल, मसाले और बहुत गर्म वस्तुओं का सेवन बिलकुल न करें, बाज़ार की मिठाइयों को खाने का अभ्यास भी छोड़ देना चाहिये। रात्रि को सोते समय पेशाब करके मुंह हाथ धोकर अपने बिस्तर पर अच्छे विचार या ओ३म् का जप करते हुए सो जाना चाहिये। दिन के परिश्रम (थकावट) या कदाचित् खाने पीने की गड़बड़ से रात्रि में हानि की सम्भावना प्रतीत हो तो उपस्थेन्द्रिय पर ठण्डा पानी डालकर अथवा नाभि के नीचे के प्रदेश पर पानी में खद्दर के रूमाल को कुछ गीला करके चार तह बनाकर रखके सो जाना लाभदायक है। रात्रि के मध्य में आँख खुलने पर शान्त बैठ जाना या ओ३म् का जप करना चाहिये। नींद आने पर सो जाएँ। रात्रि को सोते समय कुछ खाना पीना नहीं चाहिए किन्तु लगभग

डेढ़ घण्टा पूर्व ही खाना समाप्त कर देना चाहिये और सायंकाल का भोजन अत्यन्त पेट भर खाना उचित नहीं है। ऐसे रोगी को रात्रि का दूध पीना त्याग देना चाहिये, दिन का सोना भी हानि-कारक है। सदा धार्मिक पुरुषों का सङ्ग और धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक है। पूर्व कहे हुए ब्रह्मचर्य-कर्त्तव्यों का भी पालन करते रहना चाहिये। इस प्रकार संयम में रहना जरूरी है।

द्वितीय क्रिया—पहिली क्रिया के समान सब कुछ करना है केवल चनों के स्थान पर पांच माषे बेहीदाना एक छटांक पानी में छोटे से मिट्टी के बर्तन में भिगोकर रात को हवा में रख दें और प्रातःकाल पूर्व के समान सब क्रियाएँ करके बेहीदाना को किसी वस्त्र में छान लें। अन्दर का दाना फेंक दें और बाहर जा छनकर शीतकषाय (गाढ़ा सा पानी) निकला है उसमें थोड़ी मिश्री डालकर चाट लें। बाद पानी से कुल्ली कर मुख साफ़ कर डालें। पुनः ऊर्ध्व-पद्मासन यानि एक टांग से खड़े होकर दूसरी टांग मोड़कर, जिस टांग पर खड़े हैं उस टांग को जड़ में उठाई हुई दूसरे पैर को एडी को लगाकर कुछ देर खड़े रहना चाहिये। यदि वाम पैर पर खड़े हों तो दक्षिण पैर की एडी वाम टांग को जड़ में ऊपर कटि भाग को स्पर्श करे एवं दक्षिण पैर पर खड़े होकर भी यह आसन करना चाहिये। इसका दैनिक आसन-व्यायाम में भी करना अच्छा है। साथ में सर्पासन को ऐसी परिस्थिति में किया जावे कि उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श भूमि तक हो। यह दो क्रियाएं वीर्यनाशक रोगों के सम्बन्ध में बतलाई हैं जो प्रमेह और स्वप्नदोष के लिये अत्यन्त हितकर हैं।

दुरभ्यास का निवारण—आजकल वीर्यनाश के दुरभ्यास नाना प्रकार से बालकों, बालिकाओं तथा युवकों में प्रचलित हैं। यानि कुछ हस्त-मैथुन से वीर्यनाश करते हैं, कई परस्पर संसर्ग वा

व्यभिचार से अपने जीवन-रस को खो रहे हैं। एवं जीवन-घातक इस प्रथा के सेवन से असंख्य युवक व्याकुलित हुए बैठे हाथ मल रहे हैं और नाना प्रकार के पश्चात्ताप कर रहे हैं। उन दुःखित आत्माओं की शान्ति के लिये तथा जो इस घातक मार्ग में प्रवृत्त हैं उनको भी इससे पृथक् करने के लिये योगाभ्यास की पद्धति से "ग्रहणमार्ग" नामक मनोविज्ञान-प्रकरण में देखें।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में और किन्हीं ग्रन्थों अथवा साधु संन्यासियों तथा विद्वान् महानुभावों से यावत्-शक्य उपदेश प्राप्त करना चाहिये।

गृहस्थधर्म—गृहस्थधर्म के प्रकरण को छः विभागों में रखा जा सकता है। जिनमें (१) विवाह, (२) पति पत्नी का परस्पर सम्बन्ध, (३) सन्तानोत्पत्ति, (४) सन्तान का पालन और शिक्षण आदि, (५) गृहव्यवस्था, (६) पारिवारिक आचरण। इस प्रकार इन विभागों पर संक्षेप से ही प्रकाश डाला जाता है:—

विवाह—याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र में लिखा है "अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत। अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥ एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः। यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमान् जनप्रियः॥" (याज्ञव० १।५२) ब्रह्मचर्य-पूर्ण युवती कन्या के साथ युवावस्था को प्राप्त, शक्ति-सम्पन्न, विद्वान्, बुद्धिमान्, ब्रह्मचारी का विवाह करना चाहिये। इस श्लोक में विशेष ध्यान देने योग्य "युवा-यवीयसीम्" यह दो शब्द हैं। अर्थात् यहां इस बात पर अधिक बल दिया है कि वर-वधू युवा और युवति होने चाहियें। वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में वर-वधू को जन्यु और जाया भी कहा है। वहां पर यह निर्णय किया है कि जो पुरुष सन्तान को जन्म दे सकता है और जो स्त्री सन्तान को जन्मा सकती है वे ही पति पत्नी बनने के अधिकारी हैं। उक्त सिद्धान्त से यह बात प्रकट होती है कि यौवनावस्था में ही विवाह होना चाहिये। बाल-विवाह

अथवा वृद्ध-विवाह करना कराना शास्त्रोक्त नहीं है बल्कि अत्यन्त हानिकारक है। वैद्यक के सुश्रुत ग्रन्थ में बतलाया है कि सोलाह वर्ष से न्यून अवस्थावाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से न्यून अवस्था वाला पुरुष यदि गर्भ को स्थापन करे तो वह गर्भ कुक्षी में ही बिगड़ जाता है या नष्ट हो जाता है। उत्पन्न हो भी जावे तो वह सन्तान चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता। कदाचित् जीवित भी रहा तो सदा दुर्बलेन्द्रिय, शक्तिहीन रहेगा। इसलिये बाल्यावस्था में गर्भ-स्थापन न करना चाहिये। न केवल यह शास्त्रीय मर्यादा है बल्कि मनुष्य-सम्बन्धी सृष्टि-क्रम का नियम समझना चाहिये। नियमों से विपरीत चलकर स्वकुल, स्वजाति और स्वदेश का सर्वनाश करना है। विवाह के लिये युवावस्था के नियमों को परित्याग कर बालविवाह और वृद्धविवाह द्वारा स्वजाति और स्वदेश की देवियों पर वैधव्य दुःख का बज्रपात करना है साथ में स्वजाति और स्वदेश की मनुष्य-संख्या को घटाना है। अतः जाति और देश के क्रान्तिकारी महाशयों को युवावस्था में विवाह करने कराने की तरफ ध्यान देना अत्यावश्यक है। किन्तु सारी क्रान्तियों का मूल यही विवाह-सम्बन्धी क्रान्ति है। ऐसा समझ कर अपनी पूर्ण शक्ति इसके प्रचार और अनुष्ठान में लगा देनी चाहिये।

विवाह के सम्बन्ध में एक और विशेष बात यह है कि विवाह वर-वधू की परस्पर अनुमति से होना चाहिये। ऋषि दयानन्द ने भी इस बात का अपने ग्रन्थों में आदेश किया है कि विवाह लड़का लड़की के अधीन होना चाहिये। मानव धर्म-शास्त्र आदि में भी इसी सिद्धान्त का निर्देश है। जो कि "उद्वहेत द्विजो भार्याम् (मनु० ३। ४) विन्देत सदृशं पतिम्" (मनु० ९। ९०) इन वचनों से प्रकट है। वास्तव में स्त्री पुरुष की परस्पर अनुमति से स्वयंवर विवाह करना ही गृहस्थ की शान्ति का कारण है अन्यथा देवासुर संग्राम होते रहना सम्भव है।

(२) पति पत्नी का परस्पर सम्बन्ध—विवाह के अनन्तर स्त्री और पुरुष को परस्पर एक दूसरे से सन्तुष्ट रहना चाहिये। किसी विशेष कर्त्तव्य-कर्म को करने से पहिले दोनों की अनुमति होनी आवश्यक है। एक दूसरे के सहयोग से गार्हस्थ्य-जीवन को उच्च बनावें; परस्पर विरोध और वैमनस्य करना गृहस्थ के नाश का कारण है ऐसा मनु आदि धर्माचार्यों का कथन है।

(३) सन्तानोत्पत्ति—ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में ध्यान देने योग्य एक अत्यन्त आवश्यक सङ्केत किया है वह यह कि—

"उत्तम सन्तान करने का मुख्य हेतु यथोक्त वधू वर के आहार व्यवहार पर निर्भर है"

हमारी समझ में इस उक्त सङ्केत के अन्दर सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी सभी शिक्षाओं का समावेश हो जाता है। कारण कि जिस प्रकार उत्तम फल फूल का वृक्ष या सुन्दर शोभायमान उद्यान अथवा पुष्कल अन्न-सम्पन्न कृषि के लिये सगुण, पुष्ट तथा उत्तम बीज और मृदु आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न परिष्कृत भूमिका होना अत्यन्त आवश्यक है एवं माता पिता के आहार और व्यवहार की उच्चता उत्तम सन्तान की उत्पत्ति का कारण है। माता पिता यदि चाहें तो उक्त सिद्धान्त के आधार पर अपनी इच्छानुसार बलिष्ठ, बुद्धिमान् और अनेक उत्तम गुणों से युक्त सन्तान को उत्पन्न कर सकते हैं। यहां पर एक बात यह और ध्यान रखने योग्य है कि जिस प्रकार किसी भी बीज की उत्पत्ति ऋतु पर निर्भर है, ऋतु से भिन्न समय में बीज का बोना उसका नाश तथा भूमि-शक्ति का ह्रास करना है। एवं मानवीय ऋतु-काल से भिन्न समय में गर्भाधान करना वीर्यनाश और स्त्री की गर्भाशय-शक्ति या गर्भधारण-शक्ति को खो देना है। इस अनुचित क्रिया से अनेक गृहस्थ रोगी और निःसन्तान हो बैठते हैं। वैद्यक के सुश्रुत ग्रन्थ में लिखा है कि

"रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते। मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जातः शुक्रसम्भवः ॥" इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जो कुछ आहार करता है उसका सबसे प्रथम रस (लसिका) बनता है, रस से रक्त (खून-लोहू), रक्त से मांस, मांस से मेदः (मांस के ऊपर चिकनी सी सफेद वस्तु), मेद से अस्थि (हड्डी), अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र (वीर्य) बनता है। यह वीर्य सबसे अन्तिम सातवीं धातु है। जिसको दश सेर फूलों में से मुश्किल से एक तोला इतर (Scent) के बराबर समझना चाहिये। इसलिये गृहस्थ को भी इसकी रक्षा करना अत्यावश्यक है। वीर्य का नाश करने से उदरस्थ अग्नि मन्द हो जाती है जिससे भूख कम लगती है और अपचन रोग हो जाता है। यह बात आयुर्वैदिक सिद्धान्त की है "धातुक्षयाद्दते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः" तथा—"स्त्रीष्वतिसंगादयशो वर्धते। आयुश्च क्षीयते" (बार्हस्पत्यार्थशास्त्र। १। ३४-३५)

अधिक भोग विलास से यश और शोभा की तो हानि होती ही है किन्तु आयु भी क्षीण हो जाती है। इसलिये गृहस्थ में स्त्री और पुरुष संयम से रहते हुए ही उत्तम सन्तान को उत्पन्न कर सकते हैं तथा सुखमय जीवन भी बना सकते हैं।

(४) सन्तानों का पालन और शिक्षण—माता पिता को चाहिये कि शास्त्रीय तथा धार्मिक विचारों और भावों के साथ सन्तान का पालन, क्रीड़न और उनके साथ वर्तन करके सन्तानों के भावी जीवन और आत्मा को उच्च बनाने में सतत प्रयत्न करते रहें। वैद्यक शास्त्रानुसार ऋतु, ऋतु के भोजन और आच्छादन आदि में ऐसी वस्तु का सेवन करें जिससे सन्तान कभी रोगी न हो सके; कदाचित् रुग्ण हो भी जावे तो उचित औषध से योग्य वैद्य से चिकित्सा करावें न कि अनपढ़ लोगों की डोरा, धागा, झाड़, झपट आदि अनिष्ट क्रियाओं में सन्तान की दुर्दशा करें। इसी प्रकार फल की लीला वाले ज्योतिषियों के जाल में फँसकर चिन्तित और भ्रमयुक्त न बनें, शुक्रनीति में तो इन फल की लीला

वाले ज्योतिषियों को देश से बाहर निकाल देने का विधान है। अस्तु। एवं सन्तान पालन के साथ साथ सन्तान-शिक्षण का ध्यान भी अत्यन्त आवश्यक है। बालकों के शिक्षण का आरम्भ वस्तुतः गर्भ समय से ही शुरू हो जाता है। माताएँ जिस प्रकार की सन्तान बनाना चाहती हैं गर्भ में उसी प्रकार की भावनायें बच्चे के अन्दर डालती हैं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है "मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद" इस वचन का सत्यार्थप्रकाश में उद्धरण देते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं "प्रशस्ता धार्मिकी माता यस्य स मातृमान्" धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे।"

अभिमन्यु जैसे वीर बालक गर्भगत शिक्षा के प्रभाव से ही बन चुके हैं। जिस प्रकार माता गर्भ से शिक्षा देती है एवं पिता भी सन्तान को पूर्ण विद्वान् बनाने के लिये यत्न करता रहे। वस्तुतः पिता कहलाने का अधिकार वही है जो कि स्वसन्तान को पूर्ण-विद्या आदि प्राप्त कराने में निरन्तर यत्न करे, ऐसा शास्त्रों का सिद्धान्त है "विद्यागमार्थं पुत्रस्य वृत्यर्थं यतते च यः। पुत्रं सदा साधु शास्ति प्रीतिकृदनृणी।" (शुक्रनीति) जो पुत्र की विद्या-प्राप्ति और जीविका के लिये यत्न करता है तथा पुत्र को सदा उत्तमोत्तम बातों का उपदेश देता है और उसके लिये हृदय में प्रेम रखता तथा अनावश्यक ऋण का भार नहीं डालता है वही पिता कहलाता है। एवं समय तथा आवश्यकता के अनुसार यथोचित् गुरुकुल आदि शिक्षणालयों में भी सन्तानों को शिक्षा अवश्य दिलानी चाहिये।

(५) गृह-व्यवस्था—पाकशाला (पकाने का स्थान), भोजन-शाला (खाने का स्थान), उपासनागार (सन्ध्या मन्दिर-सन्ध्या करने का स्थान), स्नानागार (नहाने का स्थान), वस्तु-भण्डार (आवश्यक वस्तुओं के रखने का स्थान), वसति-गृह (बैठने, उठने और रहने का स्थान), शयनागार (सोने का स्थान),

अतिथि-निवास (अतिथियों के रहने का स्थान), बरामदा (बारांडा) पशुशाला, अवस्कर स्थान (मल मूत्र त्यागने की जगह), आदि सुव्यवस्थित तथा परिष्कृत रहने चाहियें। प्रत्येक गृहस्थ के निर्वाहार्थ उपर्युक्त स्थान-विभाग बड़े छोटे यथासम्भव होने ही चाहियें वेद का ऐसा आदेश है "इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय" (अथ० ३ । १२ । २) तथा "आयने ते परायणे दुर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः । उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥ (अथ० ६ । १ । २ । १)" घर के पास दूब और फूलों वाली बेलें होनी चाहियें तथा कूआँ अथवा फूल सहित जलाशय भी होना चाहिये।

(६) पारिवारिक आचरण—गृहस्थ को यह अत्यन्त आवश्यक है कि धर्मचर्य्या के प्रथम प्रकरण में जो दिनचर्या कह चुके हैं उसका तथा साथ साथ पञ्च महायज्ञों का प्रति दिन सेवन करें क्योंकि यह गृहस्थों का नित्य कर्म है। इनका पूरा पूरा विवरण मनु आदि धर्मशास्त्रों में किया है अतएव यहाँ अल्प परिचय ही दिया जाता है। इन पञ्च महायज्ञों के प्रसिद्ध नाम ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ हैं*। कई एक धर्म ग्रन्थों में इनके अन्य नाम भी दिये हैं अर्थात् ब्रह्मयज्ञ को जपयज्ञ, ऋषियज्ञ, मन्त्रयज्ञ, स्वाध्याय और सन्ध्या के नाम से कहते हैं†। देवयज्ञ को अग्निहोत्र, हवन और होम के नाम से भी कहा है। पितृयज्ञ को प्रायः सभी शास्त्रों में कोई दूसरा नाम नहीं दिय है। बलिवैश्वदेवयज्ञ को भूतयज्ञ भी

* पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति संतिष्ठन्ते। देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति" (तै० आरण्यक २ । १०)

† ये पाक यज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः। ते जपयज्ञस्य कलाम्—नार्हन्ति षोडशीम्। (मनु० २ । ८४।)

कहते हैं। अतिथियज्ञ को नृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ नाम भी दिये हैं। अब इन पाँचों यज्ञों का संक्षेपतः स्वरूप दर्शाया जाता है—

ब्रह्मयज्ञ—संध्योपासन और योगाभ्यास का नाम ब्रह्मयज्ञ है।

देवयज्ञ—अग्नि में सुगन्ध, रोगनाशक, मिष्ट और पुष्टिकारक घृत आदि पदार्थों की आहुति देने को देवयज्ञ कहते हैं।

पितृयज्ञ—माता पिता तथा स्ववंश के वृद्धों और मान्य जनों की अन्नादि से श्रद्धापूर्वक सेवा करना पितृयज्ञ कहाता है और इसी को श्राद्ध भी कहते हैं "संस्कृतं व्यञ्जनाद्यञ्च पयो दधि घृतं मधु। श्रद्धया दीयते यस्मात् तेन श्राद्धं निगद्यते" (पुलस्त्य वचनम्) पका हुआ अन्न, दाल, शाक, दूध, दही, घृत और मधु श्रद्धा से देने के कारण श्राद्ध कहलाता है। यह सुनिश्चित है कि जो लोग हमारे सर्व प्रकार से हितैषी, पालक और उत्तम विद्या शिक्षा के देने वाले माता पिता आचार्य आदि मान्य जन हैं उनकी उक्त अन्नादि उत्तम उत्तम पदार्थों से सेवा करने के लिये हमारे अन्दर श्रद्धा उत्पन्न होती है अतएव इन मान्य पितृजनों के लिये श्रद्धा से उत्तम भोजन आदि की भेंट श्राद्ध कहलाता है। इसको पितृयज्ञ इसलिये

"कृतजप्या हुताग्नयः" (महाभारत। आदि० अनु० २१)

"ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत" (मनु० ४। २१)

"ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्तं वा"
(तै० आरण्यक २। १२)

"तस्मात् सायं प्रातः सन्ध्यामुपासीत"
(गोभिलपरिशिष्ट छन्दः सन्ध्यासूत्र १। १०)

"होमो दैवो......" (मनु ३। ७०)

"बलि भौतः" (मनु० ३। ७०)

"नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्" (मनु० ३। ७०)

कहते हैं कि यह सब हमारे जीवन के पालक, रक्षक तथा संस्थापक हैं। चाणक्यनीति में इन सभी महानुभावों की पितृसंज्ञा की है। "जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति। अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः" (चाणक्यनीति ६। २२) इस वचन का अभिप्राय यह है कि हमको उत्पन्न करने वाले माता पिता, उपनयन करने वाला गुरु, शिक्षक, योग्य बनने में अन्नादि की सहायता करने वाला और भयत्राता ये सब पितर हैं। योग्य बनकर इनकी श्रद्धा से उत्तम भोजनादि द्वारा सेवा करना मानवीय कर्त्तव्य है। ऐसा कौन कठोर हृदय मनुष्य होगा कि जो इन महानुभावों के उपकारों के बदले में श्रद्धा से सेवा करने को स्वीकार न करता हो! आज-कल लोग इन महानुभावों की जीवित काल में श्रद्धा से सेवा न करके मर जाने के बाद इनके लिये दूसरों को भोजन खिला पौरा-णिक पद्धति से श्राद्ध करते हैं जो कि दैनिक पितृयज्ञ के सिद्धान्त को न समझ कर प्रचलित है। हम इस पर विशेष विचार फिर करेंगे।

बलिवैश्वदेव-यज्ञ—पाकशाला की अग्नि में घृत आदि मिष्ट-युक्त पका हुआ अन्न पाकशाला की वायुशोधनार्थ होमने तथा निज उपयोग में आने वाले कुत्ते आदि प्राणियों और अज्ञात या अदृष्ट जीवों की हत्या के प्रत्युपकारार्थ चींटी आदि को अन्न देना बलिवैश्वदेवयज्ञ कहलाता है।

अतिथियज्ञ—अकस्मात् आये हुए महानुभाव तथा उपदेशार्थ भ्रमणशील साधु, संन्यासी, धर्मात्मा, विद्वान् को भोजन आदि से सेवा करना अतिथियज्ञ है*।

---

* "यदधीते स ब्रह्मयज्ञो यज्जुहोति स देवयज्ञो यत्पितृभ्यः स्वधा-करोति स पितृयज्ञो यद् भूतेभ्यो बलिं हरति स भूतयज्ञो यदतिथिभ्योऽन्नं ददाति स मनुष्ययज्ञ इत्येते वै पञ्च महायज्ञाः सततं प्रयुक्ता नयन्ति परमां गतिम्।" (भारद्वाज गृह्यसूत्र ३। १५)

सन्ध्या के विषय में साम्प्रदायिक जन ही नहीं किन्तु कई एक आर्य विद्वान् भी मतभेद रखते हैं। यह मतभेद उनका उचित नहीं है। ऋषि दयानन्द अथवा आर्यसमाज का सिद्धान्त प्रातः और सायं दो काल में ही सन्ध्या करने का है, त्रिकाल सन्ध्या करना पौराणिकवाद है। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में भी जहां तहां प्रातः और सायं दो हो काल में सन्ध्या करने का विधान है, परिचय के लिये कुछ प्रमाण सम्मुख रखते हैं—

(१) तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत।
उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् ॥"

(षड्विंशब्राह्मण प्र० ४। सं० ५)

(२) "ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्माद् ब्राह्मणः सायमासीन सन्ध्यामुपास्ते कस्मात्प्रातस्तिष्ठन् ॥" (ष० विं० ४। ५)

(३) "तस्मात्सायं प्रातः सन्ध्यामुपासीत।"

(गोभिल परिशिष्ट छन्द सन्ध्यासूत्र १। १७)

(४) "पूर्वां सन्ध्यां जपस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति। पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥" (मनु० २। १०२)

(५) न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ (मनु० २। १०३)

इन वचनों से यह बात स्पष्ट होती है कि दिन रात के संयोग यानि प्रातः और सायं जब कि आदित्य उदय और अस्त हो रहा हो तब सन्ध्या करनी चाहिये ?

(प्रश्न) यदि उक्त समय पर विघ्नवश सन्ध्या न कर सके तो क्या करना चाहिये ?

(उत्तर) प्रथम तो आवश्यक यह है कि उक्त सन्ध्या-समय पर सब काम छोड़कर सन्ध्या करनी चाहिये तथापि कोई विशेष कारण या घटना हो जावे जिससे निश्चित समय पर सन्ध्या न कर सके तो निवृत्ति पर अवसर पाते ही सन्ध्या कर लेनी चाहिये।

"ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्तं वा" (तै० आरण्यक २।१२) कदाचित् सन्ध्या करने के लिये जङ्गल में जाना न हो सके अथवा प्रातः सायं का निश्चित समय चूक जावे तो ग्राम में ही तथा यथावसर सन्ध्या कर लेनी चाहिये।

(प्रश्न) यदि देवयज्ञ भी प्रतिदिन करने की विधि है तो निर्धन गृहस्थ किस प्रकार हवन कर सकता है?

(उत्तर) यह ठीक है कि निर्धन गृहस्थ बहुत घी और सामग्री से हवन नहीं कर सकता। परन्तु यथासामर्थ्य कुछ कर लेना चाहिये; एक रुपया मासिक या आठ आने मासिक का ही कर लेवे। यदि इतना भी न कर सके तो अधिक धुवां न देने वाले सुगन्ध तथा बलिष्ठ पलाश, पीपल, आम्र आदि शुष्क काष्ठों को ही हवनकुण्ड में विधि पूर्वक रखकर जलाकर ही हवन कर लिया करें जिससे कि गृहस्थ के घर का दुर्गन्ध तथा दोषयुक्त वायु छिन्नभिन्न होकर बाहर निकल जावे और बाहर से शुद्ध वायु का प्रयोग हो सके। अभिप्राय यह है कि हवन अवश्य करना चाहिये "यदग्नौ जुहोत्यपिसमिधं तद्देवयज्ञः सन्तिष्ठते" (तै० आरण्यक। २। १०) एवं इन पञ्च महायज्ञों का प्रतिदिन यथासामर्थ्य सेवन करना आवश्यक है।

संस्कार—गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त मानवीय जीवन के लिये सोलह संस्कार हैं जो कि मनुष्य जीवन में विशेष प्रभावों को उत्पन्न करते हैं अर्थात् संस्कारों से विशेष गुणों और शक्तियों का समावेश हो जाता है जो माननीय जीवन को उसके ध्येय तक पहुँचाने में पूर्ण सहायक बनता है। जिस प्रकार जड़-वस्तुओं के अन्दर संस्कारों का प्रभाव देखने में आता है; जैसा कि आम्र आदि बीजों के बोते समय उनके अन्दर सौंफ कपूर आदि सुगन्ध रसों से संस्कार करने से इतना अत्यधिक प्रभाव पड़ जाता है कि उसके फलों में संस्कार की सुगन्ध बस जाती है। वीर का

चलाने वाला लक्ष्य वेध करने के लिये कानों तक खींचकर वाण में प्रथम संस्कार भरता है जो संस्कार वाण को उसके लक्ष्य तक पहुँचा देते हैं। इसी प्रकार मानवीय जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के वास्ते गर्भाधानादि संस्कार अत्यावश्यक हैं। इन संस्कारों के नाम और विवरण ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में दिये हैं वहीं से देख लेना चाहिये। अस्तु। जिस प्रकार गृहस्थ में पञ्चमहायज्ञों और संस्कारों का करना कर्तव्य-कर्म है एवं परिवार में परस्पर तथा बन्धुजनों, इष्ट मित्रों और समाज के पुरुषों से यथायोग्य वर्ताव करना आवश्यक है।

"अनुव्रतः पितु पुत्रो मात्रा भवति संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।"

(अथ० ३। ३०। २-३)

वेद का आदेश है कि पुत्र को पिता की आज्ञा का पालन तथा अनुकरण करना और माता की सम्मति के अनुकूल वर्तना चाहिये। पत्नी पती के प्रति प्रेम और शान्तियुक्त मधुर वाणी के द्वारा वर्ताव करे। भ्राता अपने भाई के साथ और बहिन अपनी बहिन के साथ ईर्ष्या द्वेष से कभी न वर्ते। तथा—

"स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्।" (अथ० १। ३१। ४)

गृहस्थ को इस प्रकार वर्तना चाहिये कि जिससे उसके वृद्ध माता पिता को हर प्रकार का सुख मिलता रहे और घर में जितने गौ आदि प्राणी हों उन सभी के सुख की चेष्टा करे। संसार भर के प्राणिमात्र का हितचिन्तन करना चाहिये। सदा यह भावना स्थिर रखनी चाहिये कि जो हम धन प्राप्त करें वह पुण्यरूप और विश्वहित के लिये हो। इस प्रकार परिजन और विश्वहित का ध्यान

रखते हुए दैनिक जीवनयात्रा व्यतीत करनी चाहिये। गृहस्थ को सदा धार्मिक, विद्वानों, साधु संन्यासियों की सेवा में जाना तथा स्वगृह पर निमन्त्रित करके सेवा और सत्संग से लाभ उठाना चाहिये। अधार्मिक, अनपढ़, पाखण्डी जनों से सदा अलग रहना चाहिये क्योंकि "असतां दर्शनात् सञ्जलपाच्च सहासनात्। धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः॥" (महाभारत) पाखण्डी व पापी जनों का दर्शन, सम्भाषण और सङ्ग करने से धर्म और आचार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य भी दुःख में गिर जाते हैं इसलिये सत्पुरुषों का सत्सङ्ग जितना बन सके अवश्य करते रहना चाहिये।

गृहस्थाश्रम से आगे वानप्रस्थ और संन्यास हैं। इनके विषय में विशेष वक्तव्य नहीं है। ऋषि दयानन्द की बनाई हुई संस्कार-विधि और सत्यार्थप्रकाश तथा मनु आदि धर्मशास्त्रों में देख सकते हैं। यहां केवल यही कहना है कि इन महानुभावों का लक्ष्य या ध्येय मुख्यतः निश्रेयस (परमात्मसङ्गति या मुक्ति) प्राप्त करना तथा परोपकार साधना है। इन महानुभावों का सदा परोपकार के सम्बन्ध में यह उपदेश होता है कि—

"अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनु वर्तमाना एत" (अथ० ३।८।६)

हे मनुष्यो! मैं अपने अनुभवों के अनुसार आप लोगों को, आपकी मनोवृत्तियों को बनाता हूँ अतएव मेरे अनुभूत और निश्चित किये हुए सिद्धान्तों पर चलो। मेरी अनुमति के अनुकूल आपके आन्तरिक भाव होने चाहियें। मैं जिन धार्मिक मार्गों पर चलता हूँ तुम भी उन पर चल कर लाभ उठाओ। इत्यादि धर्मोपदेश देने वाले विरक्त, संसार-हितैषी जनों की सेवा करना और उनके सत्सङ्ग से लाभ उठाना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है।

सामान्यधर्म

"विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया।
शासदव्रतान्" (ऋ० १।५१।८)

इस मन्त्र में मनुष्यमात्र का सामान्य धर्म जो कि मनुष्य के नाते होना चाहिये उसका वर्णन है। अभिप्राय यह है कि आर्य अर्थात् श्रेष्ठ जनों के साथ परिचय प्राप्त करना, सत्सङ्ग द्वारा लाभ उठाना, परस्पर सम्बन्ध और मित्रता करनी चाहिये। तथा जो अव्रत अर्थात् सत्यभाषण आदि व्रतों और नियमों से रहित या अज्ञानी जन हैं उनको उपदेश आदि के द्वारा सुमार्ग पर लाना, स्वाधीन रखना चाहिये। और जो दस्यु अर्थात् हिंसक, डाकू आदि हैं उनको राज्य व्यवस्था से दण्ड देना दिलाना चाहिये। अस्तु। जब प्रत्येक मनुष्य इस वैदिक मर्यादा का पालन करता रहे तो प्रजा और राष्ट्र के अन्दर धार्मिक जनों की अधिकता और सुव्यवस्था से सुख और शान्ति यथेष्ट प्राप्त हो सकती है। उत्तम जनों के साथ सद्भाव करना अतिश्रेष्ठ क है। विद्वानों का कथन है कि "सत्सङ्गः परमं तीर्थं सत्संगःपरमं पदम्। तस्मात्सर्वं परित्यज्य सत्सङ्गं सततं कुरु" सच्चा तीर्थ सत्सङ्ग है, मनुष्य-जीवन की परमोन्नति का साधन सत्सङ्ग है। अतः सत्सङ्ग जब कभी, जहाँ कहीं भी हो, सब कुछ छोड़कर उसका लाभ उठाना चाहिये। शुक्रनीति में कहा है कि जो मनुष्य क्रोधशील, झगड़ालु, अधिक सोने वाला, मादक वस्तुओं का सेवी और बिना प्रयोजन के निकम्मे कार्य्यों में लगा रहने वाला हो उसको मूर्ख समझ कर सदा उससे पृथक् रहना, और उपेक्षा करना अच्छा है अथवा यदि वह सुधरना चाहे तो उससे उपदेश आदि द्वारा वर्तन मात्र ही सम्बन्ध रखना चाहिये अन्य नहीं। और जो "यस्य सुद्रवते चित्तं परदुःखेन सर्वदा। इष्टार्थे यततेऽन्यस्याप्रेरितः सत्करोति यः॥ आत्मस्त्रीधनगुह्यानां शरणं सम्यक्सुहृत्" (शुक्रनीति० ४।४) पर दुःख को देखकर सदा हृदय में दया

लाता हो, दूसरे की भलाई में यत्न करता हो, मान्य व्यक्तियों का मान, स्वेच्छा से ही ऐसा करने में तत्पर रहता हो और समय पड़ने पर अपने शरीर, स्त्री, धन तथा अन्य रक्षणीय वस्तुओं का आश्रय-दाता हो वह ही मित्र है। ऐसे सज्जन के साथ सदा सहयोग करना सुख का कारण है। "विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम्। मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्ति हितैर्बुधाः" (शुक्रनीति ४। ११) विद्या, शूरवीरता, चतुरता (बुद्धिमत्ता), बल और धैर्य ये पांच स्वाभाविक सदा साथ रहने वाले मित्र हैं। बुद्धिमान् जन इनके सेवन से लाभ उठाते हैं। "यथाश्वा रथहीनाः स्यूरथो वाश्वैर्विना यथा। एवं तपस्त्वविद्यस्य विद्या वाप्यतपस्विनः। यथाऽन्नं मधुसंयुक्तं मधुवान्नेन संयुक्तम्। एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत्॥"

(वसिष्ठधर्मशास्त्र। १। २६। १७—१८)

जिस प्रकार रथ के विना घोड़े अथवा घोड़ों के विना रथ निकम्मे हैं एवं तपश्चरण अर्थात् कार्य तत्परता विद्या के विना अथवा विद्या कर्मशीलता के विना निरर्थक हैं। तथा जिस प्रकार अन्न मधुर रस के साथ या मधुर रस अन्न के साथ उत्तम लाभदायक और सेवनीय है एवं कार्यशीलता और विद्या दोनों साथ साथ होने से मानवीय जीवन के लिये महौषध है। "आलस्यं हि जीवतो मृतिः" आलस्य को कभी पास न फटकने दो क्योंकि आलस्य जीवित मनुष्य के लिये मृत्यु-सदृश है। इस प्रकार जीवनयात्रा को प्रत्येक मनुष्य सुश्रेष्ठ पथ से व्यतीत करे और जीवन के बाधक असद्-व्यवहारों के संरक्षण की अपेक्षा उनको सदा दूर करना ही उत्तम है। मानवीय जन्म पूर्व-पुण्यों के कारण मिलता है। इसको पुण्य कर्मों द्वारा सुखमय बनाना उचित है। विना पुण्य पथ के तो नरक-जीवन अपयश का जीवन या पशु-जीवन ही है। "अकीर्तिरेव नरको नान्योऽस्ति नरको दिवि। नरदेहाद् विना त्वन्यो देहो नरक एव सः" (शुक्रनीति ४। ३। ८) मनुष्य की अकीर्ति होना और नरदेह से भिन्न योनियों में जाना ही नरक है।

नरदेह में भी क्रान्तिकारी मनुष्य को जित-क्लेश और जितेन्द्रिय होना अत्यावश्यक है। "जितक्लेशस्य पौरुषम्। देशान्तरवासेन जितक्लेशो भवति" (बौ० धर्मसूत्र) किसी भी प्रकार की क्रान्ति या पुरुषार्थ वही मनुष्य कर सकता है जिसने सर्व प्रकार के क्लेशों पर विजय प्राप्त किया हो। देशान्तर वास से मनुष्य जित-क्लेश बनता है और इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, मद और हर्ष के त्याग से जितेन्द्रिय बनता है जिससे विद्या और विनय की प्राप्ति भी शीघ्र कर सकता है। ऐसा कौटिल्यार्थ-शास्त्र का मत है। अस्तु। सामान्यधर्म के सम्बन्ध में वेद का अब एक अन्तिम आदेश रखते हैं और वह यह है कि—

"यशो माद्यावापृथिवी यशो म इन्द्रबृहस्पती।
यशो भगस्य विदन्तु यशो मा प्रतिमुच्यताम्।
यशस्व्यस्याः संसदोहं प्रवदिता स्याम्"

(साम० पू० ६। ३। १३। १०)

प्रत्येक मनुष्य को स्व-जीवन और पर-जीवन (परोपकार) के कर्तव्य-कर्म के लिये अपने अन्दर इस प्रकार की स्थिर-भावना करनी चाहिये कि मेरे माता पिता मेरे यश के कारण हों, उनका पालन-शिक्षण-व्यवहार मेरे प्रति मेरे यश का बढ़ाने वाला बने तथा उनके प्रति मेरा सेवा आदि वर्ताव मेरे यश का हेतु हो। मेरा गुरु और शिष्य मेरे यश के कारण हों। मैं गुरु से ऐसी विद्या और शिक्षा का अध्ययन करूं जो मेरे यश की बढ़ाने वाली हो तथा मेरा वर्ताव गुरुवर के प्रति इस प्रकार हो कि वह भी मेरे यशोवृद्धि का निमित्त हो। गुरु से शिक्षण, विद्या-लाभ लेने और उनकी सेवा में इस प्रकार तत्पर रहूँ जिससे विश्व में (दयानन्द के तुल्य) मेरा यश फैल जाय। मेरा शिष्य मेरे यश का कारण बने, मैं अपने शिष्य को ऐसा सद्वर्तन और सत्यविद्या का उपदेश दूं कि जिसमें मेरा यश हो। संसार का सारा ऐश्वर्य या सुख मुझे यशोलाभ दे;

उसका सत्पात्रों में सुन्दर उपयोग इस प्रकार कर सकूं कि जिससे पुण्य यश प्राप्त हो। मेरे देहान्त के पश्चात् मेरा यश रह जावे, मैं मृत्यु पर्यन्त ऐसे कर्म करता रहूं जिनसे मेरा यश ही यश बढ़े। इस जन-समुदाय या आर्य-संघ तथा सङ्गति वा सम्मेलन में किन्हीं उत्तम लाभदायक विश्वहित और विद्या-युक्त वक्तव्यों तथा भाषणों द्वारा अपने आपको सुवक्ता बनाकर मानवीय यश प्राप्त कर सकूं। अन्त में "यस्य नाम महद् यशः" (यजु० ३२ । ३) परम यशोरूप उस विश्वात्मा अन्तर्यामी आनन्दमयदेव को प्राप्त हो सकूं।

षष्ठ स्थान

वैज्ञानिक परिचय

विज्ञान अर्थात् विद्या का सम्बन्ध गत प्रकरणों में भी था, परन्तु विशेषतः अर्थात् चरित्र-शिक्षण के अन्तर्गत था। किन्तु यहां केवल विज्ञान विषयक बातों की चर्चा ही होगी अर्थात् विद्या-विकास का वह क्षेत्र होगा जिसमें भौतिक पदार्थों का परिचय ही लक्ष्य है। विद्या-क्षेत्र बड़ा विस्तृत है इसकी चर्चा अल्पपृष्ठों में या किसी एक व्यक्ति से होनी असम्भव है तथा विद्याएं असंख्य हैं; न केवल जितनी वर्तमान में प्रकटित हैं उतनी ही हैं किन्तु इनसे पृथक् अन्य अप्रकट अनेक विद्याएं हो सकती हैं, जिनका परिचय इस समय मानवीय मस्तिष्क में नहीं है परन्तु भविष्य में उनका प्रादुर्भाव होना या समझ में आ जाना सम्भव है। अतएव इस अनन्त विद्या-क्षेत्र को स्पर्श न करते हुए उसका मौलिक और संक्षिप्त स्वरूप ही रखा जा सकेगा। इस विषय में कुछ लिखने का आधार वेद होगा।

विद्या क्षेत्र की ओर जब हम विचार करते हैं तो हमें मूलरूप में व्यष्टि (शरीर) और समष्टि (संसार) के अन्दर छः प्रधान विद्याएं प्रतीत होती हैं जिनमें तीन व्यष्टि में और तीन समष्टि में। व्यष्टि में शरीर, मन और आत्मा उनका स्थान है। समष्टि में पृथिवी (भूगोल तथा भौतिक विज्ञान), खगोल (ज्योतिष् तथा अणु-विज्ञान) और विश्व की नियन्त्री शक्ति (ईश्वर) उनका स्थान है। इन्हीं छः विद्याओं में आध्यात्मिक और प्राकृतिक सभी विद्याओं का अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य को इन मौलिक विद्याओं का थोड़ा बहुत परिचय अवश्य करना चाहिये क्योंकि इनके परि-चय के बिना मनुष्य जीवन का सुखलाभ नहीं हो सकता। जिस

प्रकार घर के अन्दर रहने वाली वस्तुओं का ज्ञान गृहस्थ में बालकों को होने से वे घर की वस्तुओं से सुखलाभ उठाते हैं, अपरिचय से दुःख। उदाहरणतः घर में एक बालक दस वर्ष का है दूसरा चार मास का, छोटे बालक के सामने जब मिर्च जैसी वस्तु आ जाती है तो वह उसको खाता है और उसकी चरपराहट से दुःख मनाकर रोता है, अग्नि सामने आ जाती है तो अपने हाथ पांव फूंक कर कष्ट उठाता है, सुई आदि मिल जावे तो चुभोकर पीड़ा सहता है। यह सब कष्ट अज्ञान से है। उस नन्हें से बालक को वस्तु-विज्ञान नहीं है। बस यही दुःख का कारण है। दूसरी ओर दस वर्ष का बालक घर में अच्छी अच्छी खाने की वस्तुओं को देखता है और खाकर आनन्द मनाता है। अवसर पड़ने पर अग्नि से सर्दी दूर करता है या और कोई सुखदायक उपयोग लेता है। सूई आदि से कांटा निकालना आदि हितकर काम करता है एवं इस दस वर्ष के बालक को इतना ज्ञान है जो घर की वस्तुओं से सुख-लाभ उठा सके। इसी प्रकार मनुष्य के लिये संसार बहुत बड़ा घर है, इसके अन्दर वर्तमान पदार्थों से सुखलाभ उठाने के वास्ते उनका विज्ञान आवश्यक है। इसलिये मनुष्य को मौलिक छः विद्याओं का कुछ न कुछ परिचय अवश्य कर लेना चाहिये।

व्यष्टि

शरीर विज्ञान—व्यष्टि के अन्दर प्रथम शरीर-विज्ञान है। शरीर-विज्ञान सम्बन्धी मूलसिद्धान्त वेद में इस प्रकार वर्णित है कि—

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम्।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम्॥

(अथ० १८। ४। २९)

अर्थ—असंख्य धाराओं या असंख्य नाड़ी-प्रवाहों से युक्त शरीर के अन्दर वर्तमान वायु अर्थात् वात एवं ऊष्मा-प्राप्ति के

कारण रूप अर्क अर्थात् पित्त और रयि जलरूप सोम अर्थात् कफ के आश्रय सब इन्द्रियों की चेष्टाएं होती हैं तथा उक्त ये वात, पित्त, कफ इस शरीर का सदा पालन करते हैं और इसके अन्दर रसादि शुक्र पर्यन्त (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) सप्त धातुओं तथा शरीर की उत्पत्ति और धारण आदि का आधार वात, पित्त, कफ तीन मूल तत्त्व हैं। रस से लेकर शुक्र पर्यन्त धातुओं की स्थिति के कारण उक्त वात, पित्त, कफ ही हैं। अस्तु। यहां मन्त्र में वात, पित्त कफ को वायु, अर्क और सोम के नाम से कहा है।

"विसर्गादानविक्षपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफ-पित्तानिलास्तथा" (सुश्रुत० सू० २१ । ८)

"वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यनात्मा प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चा-वचानाम्। अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति तद्यथा पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमुष्मणः। सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति तद्यथा दार्ढ्यं शैथिल्य-मुपचयकार्श्यम्" (चरक० सू० १२ । ८, ११, १२ ।)

वायु—शरीर में जीवन शक्ति को स्थिर रखता है तथा नाड़ियों, स्रोतों और आशयों में रस रक्त आदि धातुओं का आन्तरिक सञ्चालन और बाहरी अङ्गों का व्यापार कराता है।

पित्त—शरीर के अन्दर शरीरधारक उष्मा को स्थिर रखता और रस, रक्त आदि धातुओं का परिपाक तथा परिणाम करता है।

कफ—शरीर में रक्तादि धातुओं का उपचय और शरीर का पोषण करता है। आयुर्वेदशास्त्र में इनका स्थानिक विभाग भी किया है। नाभि और नाभि के नीचे वस्ति (मलाशय) वात का स्थान; नाभि के ऊपर हृदय के नीचे वाले भाग (पक्वाशय) में पित्त का स्थान; हृदय और ऊपर के भाग (आमाशय तथा अन्न-प्रणाली) में कफ का स्थान वर्णन किया है। अतएव वात-प्रकोप

में वस्ति, पित्तप्रकोप में विरेचन और कफप्रकोप में वमन परमोप्रचार है। शरीर के रचनात्मक कार्य-क्रम के कारण इनके भिन्न भिन्न नामों से भी विभाग किये हैं।

हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, गले (कण्ठ) में उदान तथा समस्त शरीर में व्यान नाम से वायु सदा वर्तमान रहता है।

अग्नि-आशय तथा यकृत् में पाचक, नेत्रों में आलोचक, त्वचा में भ्राजक, यकृत और प्लीहा में रंजक और हृदय-सम्पुट में साधक नाम से पित्त वर्तमान है।

आमाशय में क्लेदक, हृदय में अवलम्बक, रस और रसना में रसकारक, सम्पूर्ण इन्द्रियों में स्नेहन और सन्धियों में संश्लेषक के रूप में कफ रहता है।

इस प्रकार शरीर का रचनात्मक संक्षिप्त मूल तत्व आपके सम्मुख रखा है। इनका पूर्ण परिचय आयुर्वेद-शास्त्र से करना चाहिये। तथा इनके प्रकोप, शमन आदि के भेद, लक्षण और सामान्य चिकित्सा तथा तत्सम्बन्धी शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों का स्वरूप भी आयुर्वेद से जानना चाहिये। अस्तु! शरीर विज्ञान के मूल तत्व के विषय में यहां इतना ही लिखना था। वैसे तो वात, पित्त, कफ के मूल तत्व वाले प्रकरण में ही मन्त्रों में शुक्रकोश, श्लेष्मकोश, रसकोश, रक्तकोश, मांसकोश, मेदःकोश, अस्थिकोश, मज्जाकोश और स्नायुकोश। हृदय और उसका कार्य। वात, पित्त, श्लेष्म तथा रक्त का वहन करने वाली नाड़ियों का वर्णन आदि भी है।

मनोविज्ञान—"मन वस्तु, मन का स्वरूप, मन का कार्य और उपयोग" इन बातों पर विचार करना मनोविज्ञान कहलाता है। हम क्रमशः इन पर प्रकाश डालते हैं। शरीर में जिस प्रकार आत्मा को देखना आदि बाह्य शक्तियों का प्रकाश तथा उपयोग

होने के लिये नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियां (बहिष्करण) साधन है एवं संकल्प आदि आन्तरिक शक्तियों के प्रकाश तथा उपयोग के लिये मन (अन्तःकरण) साधन है। यद्यपि सामान्य रूप से व्यवहार में अन्तःकरण को मन कहा जाता है परन्तु मन अन्तःकरण का एक अवयव है। 'मन+बुद्धि+चित्त+अहङ्कार' इन चार को अन्तःकरण कहते हैं। ये चारों वस्तुएं पृथक् पृथक् हैं। उपनिषदों में इनका स्वरूप अलग अलग ही वर्णित किया है।

(I) "मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्तम्। अवक्तात्पुरुषः परः" (कठो० । १ । ३ । १०)

"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्तात्मानि" (कठो० अ० १ । व० ३)

इसी अन्तःकरण-चतुष्टय का अपने अपने शास्त्र के लक्ष्य पर आचार्यों ने केवल एक एक नाम से ही व्यवहार किया है। वैशेषिक और न्याय तथा मानव धर्म-शास्त्र में इनको मन के नाम से वर्णन किया है—

"पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि"

(वैशेषिक । १ । १ । ५)

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्" (न्याय । १ । १ । १६)

"एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्। यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ" (मनु० । २ । ९५)

तथा कोई आचार्य बुद्धि के नाम से कहते हैं। योग चित्त के नाम से कहता है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (योग दर्शन १।२) और कोई अहङ्कार कहकर ही व्यवहार करते हैं। वेद में इन चारों का अलग अलग तथा एकरूपता से भी वर्णन है किन्तु एकता में केवल मन शब्द से ही व्यवहार है—

१—"यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"

(यजु० ३४ । १)

जागते हुए का यह मन निज दैव अर्थात् इन्द्रियों-इन्द्रियों के विषयों के प्रति दूर तक जाता है तथा सोते हुए का वासनाओं को दूर से दूर स्थान तक उत्क्रान्ति (गति) करता है। एवं वह वेगवान् पदार्थ ज्योतियों का ज्योति विद्युत-रूप मेरा मन शिव सङ्कल्प वाला हो। अर्थात् यह मन अपने अधिकार के सङ्कल्प विकल्प न करके मेरे अधीन शास्त्रीय इष्ट सङ्कल्प वाला हो (यह मन में विषय में)

२—"यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च" (यजु० ३४ । ३)

जो यह प्रज्ञान = बुद्धि है जिसको चेतः, धृति आदि नामों से कहते हैं यह बुद्धिरूप मेरा मन कल्याण का निश्चय करने वाला हो (यह बुद्धि के विषय में)

३—"येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्" (यजु० ३४ । ४)

जिससे भूत वर्तमान तथा भविष्यत् का स्मृतिज्ञान गृहीत होता है वह चित्तरूप मेरा मन सत्यधारणा सत्यस्मृति वाला हो (यह चित्त के विषय में)

४—यस्मिनृचः सामयजूंषि प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा ।
यस्मिंश्चित्तमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।।

(यजु० ३४ । ५)

जिसमें ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की विद्याएं संगृहीत होती हैं तथा जिसमें प्राणियों का चित्त जुड़ा हुआ या प्रथित है वह अहङ्काररूप मेरा मन नेता की भावना वाला हो (यह अहङ्कार के विषय में)

एकता में चारों—"यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्" (यजु० ३४। २)

जो अपूर्व सेवनीय तथा प्राणियों का अन्तःकरण-चतुष्टय है वह अन्तःकरण-रूप मेरा मन उत्तम संस्कार वाला हो।

इन मन्त्रों की विशद व्याख्या हमारी 'वैदिक मनोविज्ञान' या 'वैदिक वन्दना' पुस्तक में देखें।

(II) योग का सिद्धान्त है कि यह मन 'सत्व-रजः-तमः' नाम से तीन गुण वाला है। वास्तव में इसका गुण सत्व है जैसे वस्त्र स्वभावतः शुक्ल होता है, रजः लाल रंग के तुल्य और तमः कृष्ण रंग के समान है। इसलिये गुणों के भेद से मन की चार स्थिति हो जाती हैं—

(क) सत्वमात्र (शुद्ध हुआ, स्वरूप में स्थित, निरोध में सहायक)
(ख) 'सत्व + रजः' (ज्ञान और धार्मिकतादि भावों से युक्त)
(ग) 'सत्व + रजः + तमः' (ऐश्वर्य को प्राप्त)
(घ) 'सत्व + तमः' (अधर्म अज्ञानादि को प्राप्त)

(III) प्रवृत्ति के कारण मन की पांच भूमियां हैं—

"क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः" (योग पर व्यास वचन १ । १)

इन भूमियों में से जिसका भी अभ्यास किया जावे वैसा ही यह मन बन जाता है। क्षिप्तता (चञ्चलता) की ओर अभ्यास किया जावे तो मन इतना चंचल हो जावे कि मनुष्य को जीवन से हाथ धोकर चलना पड़े। मूढ़ता का अभ्यास करे तो बड़ा उन्मत्त (पागल) होकर नष्ट हो जावे। विक्षेपी (दुःखी) होने में अभ्यास करे तो प्रत्येक प्रसङ्ग में दुःख ही दुःख अनुभव करके मर जावे। एकाग्रता में वस्तु का स्वरूप-ज्ञान कर लेता है। निरोध में परमात्म-गुणों को धारण कर लेता है। अतएव एकाग्रता और निरोध से ही लाभ उठाने का यत्न करना चाहिये।

(IV) "चित्तमयस्कान्तमणिकल्पम्" (योग० १।४ पर व्यास) मन अयस्कान्तमणि (चुम्बक पत्थर) के समान है। वह अपने केन्द्र से आकर्षण की धाराएँ फेंकता है जो कि उसके विषय को आकर्षित करके ले आती हैं। इन्हीं आकर्षण धाराओं की सङ्गति से इन्द्रियों में भी आकर्षण शक्ति आ जाती है जिससे इन्द्रियां भी अपने अपने विषयों को खींच लेती हैं जैसे अयस्कान्त पत्थर से स्पर्श हुई लोह सुई दूसरी लोह सुई को खींचने में समर्थ होती है।

(V) मन में वैद्युत आक्रमण धर्म भी है। बाहरी जगत् में जैसे विद्युत सहसा क्षण भर में कहीं से कहीं पतन करता है एवं आन्तरिक संसार (शरीर) में मन भी ऐसा ही है जो क्षण भर में कहीं से कहीं विद्युत् की भान्ति पतन करता है। यह सिद्धांत उपनिषदों ने भी स्वीकार किया है "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" (केनो० १ । १)

मन का उक्त पतन या गति करना स्वरूपतः गौण है प्रत्युत मनो-विज्ञान की दृष्टि से "गच्छतीव च मनः" (केनो० ४ । ५) मन जाता हुआ जैसा प्रतीत होता है। वास्तव में स्वयं शरीर को छोड़ कर नहीं जाता किन्तु मन की आकर्षण धारायें अभीष्ट वस्तु तक जाती हैं और उसको मन के केन्द्र में खींच लाती हैं। इसलिये मन से सदा शुभ चिन्तन करना चाहिए कारण कि "यन्मसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कमणा करोति यत्कर्मणा करोति तदभि सम्पद्यते" मन में जो भी संस्कार आता है अन्त में फल रूप में वही उपस्थित होता है। अतएव मनोविकास द्वारा इससे अपूर्व लाभ उठाना चाहिये मनोविकास का प्रकार मेरी "योग मार्ग" पुस्तक के ग्राह्य और ग्रहण मार्ग में देखें और मनोविज्ञान की विशेष बातें भी मेरे बनाये "क्रियात्मक मनोविज्ञान" पुस्तक में भी देख सकते हो।

साईटिजम्, स्प्रच्युलिजम्, मेस्मेरिजम्, हिप्नोटिजम् का मनोविज्ञान के साथ सम्बन्ध नहीं है किन्तु ये तो मन को भ्रान्त या मिथ्या विश्वास दिलाकर प्रयोग किये जाते हैं। यदि इनको भी समझना हो तो मेरे बनाये "क्रियात्मक मनोविज्ञान" पुस्तक में देख लेना।

आत्मविज्ञान आत्मविज्ञान से अभिप्राय यह है कि आत्मा क्या वस्तु है, उसका किन किन पदार्थों के साथ सम्बन्ध तथा निज प्रभाव क्या है, उसके स्वरूप ज्ञान का फल क्या है इत्यादि विचारों के साथ विवेचना करना आत्म विज्ञान कहलाता है। अस्तु। इस क्रम के सम्बन्ध में अल्प ही बताया जायगा कारण कि दर्शन आदि ग्रन्थों में इसकी चर्चा पर्याप्त है। यहां तो प्रायः वेदमन्त्रों से ही कुछ लिखा जाता है।

"अमर्त्यो मर्त्येन सयोनिरित्येतेन हीदं सर्वं सयोनि मर्त्यानि हीमानि शरीराणी ३ अमृतैषा देवता" (अथ० ९ । १० । ८)

अविनाशी दिव्यशक्ति नश्वर-शरीर के साथ प्रकट होती है और शरीरमात्र नाश को प्राप्त हो जाते हैं किन्तु यह ही एक अमृत अमर या मरणरहित नित्य वस्तु है। योगदर्शन में इसको सत्व, रज और तमोगुण से रहित चितिशक्ति अर्थात् चेतन कहा है। अन्य दर्शनों, उपनिषदों और वेदों में इसको आत्मा तथा जीव या जीवात्मा के नाम से वर्णन किया है। यद्यपि जीव शरीर में सर्वत्र शक्ति रूप से वर्तमान है तथापि सूक्ष्म से सूक्ष्म और अत्यन्त सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट हो जाने से यह अणु है।

२—इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीर के साथ होते हुए भी हृदय में वर्तमान अनिल-शक्ति (आन्तरिक वायु-प्राणशक्ति) के साथ विशेष है अतएव आत्मा का मुख्य स्थान हृदय है। योग का अनुभव और आयुर्वैदिक मत भी यही है। "वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्" (यजु० ४० । १५) बाहर का वायु शरीर में पहुंच कर अन्दर की वायु के स्थिर रखने का कारण बनता है और अन्दर की (हृदयस्थ) वायु अर्थात् प्राणशक्ति अमर आत्मा को धारण करती है। बिना आत्मा के शरीर का नष्ट हो जाना स्वभावतः सिद्ध है। ईश्वर का जीवों को शरीर में प्रकट करने, कर्मफल के देने और सृष्टि के आरम्भ में स्वाभाविक मानवीय ज्ञान-शास्त्र वेद का उपदेश देने एवं मुक्ति में स्वाश्रय में धारण करने से ईश्वर और जीव का पिता-पुत्र, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य का सम्बन्ध है। सृष्टि को भोगने से जगत् और जीव में भोग्य-भोक्ता का सम्बन्ध है। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (ऋ० १ । १६४ । २०) का तात्पर्य यही है।

३—जीव का प्रभाव मन, इन्द्रियों और सम्पूर्ण शरीर पर है अतएव इसकी चेतनता से ही इन सबके कार्य यथा सम्भव होते हैं।

"अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु। अयं स जज्ञे ध्रुव आनिषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः॥"

"ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनोजविष्ठं पतयत्स्वन्तः। विश्वे देवा समनसः सकेता एकं क्रतुमभिवियन्ति साधु"॥ (ऋ० ६। ९। ४-५)

अर्थ—शरीर में प्रथम-सत्ता वाला एक स्थिर ज्योतिःस्वरूप द्रष्टा (जीवात्मा) वर्त्तमान है जो अमर होता हुआ जन्म लेकर शरीर से बढ़ता है, जिसके अधीन मन और सारी इन्द्रियां अपना अपना कार्य करती हैं।

उपनिषदों में भी आत्मा को शरीर और इन्द्रियों का नियन्ता सारथि के समान वर्णन किया है।

४—आत्मा के स्वरूप-ज्ञान का फल यही है कि संसार में योग-क्षेम के लिये अपने मन आदि साधनों से सांसारिक सुख प्राप्त करते हुए, उनको स्वाधीन रखकर दोषों और अनिष्ट संगों से बचाते हुए, सदाचार के जीवन से योगाभ्यास करते हुए, स्वात्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव तथा विश्वात्मा सच्चिदानन्द-स्वरूप जगदीशदेव की सङ्गति से निर्बन्धन होकर परम आनन्द को प्राप्त करना है।

"आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश" (यजु० ३२। ११) अपने आत्म-तत्व के शुद्ध-बोध से परमात्मदेव के साथ सङ्गति करना अन्तिम फल है। आत्मपरिचय या आत्मज्ञान के फल की पराकाष्ठा अन्य शास्त्रों में भी यही वर्णन की है।

व्यष्टि के सम्बन्ध में इतना ही वक्तव्य था।

'समष्टि'

भूमिविज्ञान—समष्टि के वैज्ञानिक परिचय में सबसे प्रथम स्थान भूगोल का है। मुख्यरूपेण इसके सम्बन्ध में मेरा बनाया

"वैदिक-भूमिविज्ञान"★ देखना चाहिये तथा वर्त्तमान के भूगोल शास्त्र भी देखने चाहियें। यहां तो केवल एक दो वेद मन्त्र भूगोलविज्ञान के सम्मुख रखे जाते हैं। भूमिविज्ञान के लिये "भूमि-उत्पत्ति, भूगोल, भू-पृष्ठ, भू-गर्भ, भू-समुद्र, भू-मण्डल या भू-कक्षा, भू-भ्रमण" का परिचय करना चाहिये। किन्तु यहां पर—

"आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः (यजु ३। ६)

भूगोल जल के साथ आकाश के अन्दर दो प्रकार से गति करता है जिसमें एक तो पूर्व की तरफ सूर्य के सम्मुख उत्तर दक्षिण ध्रुव के सहाय से घूमता है। दूसरे अन्य लोक लोकान्तरों के समान आकर्षित हो अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमता है।

"एते उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते"
(साम० उ० १९। ५। १)

सूर्य की किरणें पृथिवी के सामने के आधे भाग पर सूर्य-प्रकाश को पहुंचाती हैं और दिन को प्रकट करती हैं।

खगोल विज्ञान—खगोल विज्ञान में सूर्य की प्रधानता है। अतएव लोक लोकान्तरों के परिचय के लिये मुख्यतया सूर्य-विज्ञान का समझना अत्यावश्यक है। यन्त्र या बुद्धि द्वारा हमारे लिये खगोल का विज्ञान केवल ब्रह्माण्ड पर्यन्त निर्भर है। इसमें सूर्य, ग्रह, उपग्रह, राशि और नक्षत्र इनकी गति-विधि का वर्णन होता है। परन्तु आकाश में अनन्त ग्रह, उपग्रह तथा तारागण हैं जिनका परिचय मनुष्य-बुद्धि से परे है। अध्यात्म-योगी इस अज्ञेय-क्षेत्र में भी प्रवेश पा सकता है। विश्व का पूर्ण ज्ञान तो विश्व के नायक एकमात्र जगदीश्वर को ही है। सूर्य-विज्ञान में सूर्य की स्थिति

★ यह पुस्तक लुप्त हो गई। परन्तु "वैदिक ज्योतिष-शास्त्र" पुस्तक के पृथिवी प्रकरण को देखें।

इसके आधार, गति, अस्तोदय तथा अन्य लोकों के साथ संबंध। इत्यादि विषयों का वर्णन होता है। इन विषयों का पूर्ण परिचय वेदों के ज्यौतिष-प्रकरणों तथा सूर्य-सिद्धान्त आदि ज्योतिष्-ग्रन्थों के द्वारा हो सकता है। मेरे लिखे "वैदिक ज्यौतिष-शास्त्र" को भी देखें। यहां तो सूर्य्य के स्वरूप पर ही कुछ लिखा जाता है—

१—"युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं...." (ऋ० १। ६। १) तथा "अर्कोऽग्निः" (आर्यभट्टीय) इन प्रमाणों द्वारा प्रतीत होता है कि सूर्य बड़ा भारी अग्निपुञ्ज है। इसके अन्दर लोह आदि धातुएं, गन्धक आदि आग्नेय वस्तुएं तथा अन्य धूम्रीय द्रव-पदार्थ हैं। ये जल कर ज्वालाओं को निरन्तर प्रकट करते हुए ज्वाला-मण्डल होकर सूर्य के स्वरूप में परिवर्तित होते हैं। ऐसा अध्यात्मदर्शन तथा विज्ञानवाद का सिद्धान्त है। जैसे धूम रहित अग्नि में उसके अन्दर का सूक्ष्म कोयला तथा घृत-तैल आदि पार्थिव सामग्री उसकी दीप्ति और स्थिरता के हेतु होते हैं, इसी प्रकार सूर्य में पार्थिव-पदार्थ निरन्तर जल जलकर उसकी दीप्ति और स्थिरता के कारण बन रहे हैं। वास्तव में सूर्य का भीतरी स्वरूप कृष्ण-रंग का है और वह बाहर से दीप्तिमय है। इन दो भागों की चर्चा वेद में इस प्रकार है।

यथा :—

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते।

उर्वीरापो न काकुदः॥ (ऋ० १। ८। ७)

इस मन्त्र का देवता इन्द्र है और सूर्य का इसमें वर्णन है। इस मन्त्र के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है कि—

"अथ सूर्यस्य गुणा उपदिश्यन्ते"।

अर्थ—(यः) जो सूर्य है वह (कुक्षिः) कुष्णाति आकर्षति पदार्थान् इति कुक्षिः, अर्थात् आकर्षण धर्म वाला है (सोमपातमः) निज किरणों से पदार्थों का विशेष पालन करने वाला है (उर्वीः)

इन दोनों धर्मों से युक्त सूर्य अनेक पृथिवियों के साथ (समुद्र इव) समुद्र की न्याईं (पिन्वते) सेचन और सेवन धर्म से विद्यमान है।

इस मन्त्र में "समुद्र इव" जाति में एक वचन है। अतः यहां अन्तरिक्षस्थ और पृथिवीस्थ दोनों प्रकार के समुद्रों का ग्रहण है। पृथिवी के साथ सम्बन्ध रखने वाला समुद्र पृथिवी के जलों का सेवन करता है अर्थात् अपनी ओर खींचता है, आकर्षित करता है और अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध रखने वाला समुद्र पृथिवी को सींचता है। इस प्रकार पृथिवीस्थ समुद्र का सेवन-धर्म के साथ सम्बन्ध है और अन्तरिक्षस्थ समुद्र का सिंचन धर्म के साथ। इस समुद्रोपमा के अनुसार ही सूर्य भी इसी प्रकार का है अर्थात् इसका भी एक भाग तो पृथिवी के साथ सम्बन्ध रखता है और दूसरा अन्तरिक्ष के साथ। सूर्य के मध्यभाग का पृथिवी के साथ सम्बन्ध है, यही भाग पृथिवी का आकर्षण करता है। अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध रखने वाला सौर-भाग पृथिवी पर प्रकाश करता है। सूर्य का यह मध्यभाग पार्थिव अंश से युक्त है, अतः कृष्ण रूप है, तथा दूसरा भाग अर्थात् बाह्यभाग प्रकाशरूप है। मध्यस्थ कृष्ण पार्थिव भाग इसके तेजोमय स्वरूप के पिण्डीभूत होने की स्थिति का निमित्त है। "सूर्य में कृष्णभाग की स्थिति है" इस में प्रमाण है "कृष्णमन्पद्धतिः सम्भरन्ति" "असितो रक्षिता" (अथ॰ ३। २७। १) अर्थात् कृष्णपदार्थ सूर्य-अग्नि की रक्षा करता है जो कि सित नहीं है, शुभ्र नहीं है, अर्थात् काला है।

सूर्य में इस पार्थिव द्रव्य (जो कि काला है) की सत्ता दर्शनकारों ने भी मानी है। "आदित्यलोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोगभोगसमर्थम् ।।" (प्रशस्तपाद) अर्थात् पार्थिव अंश के सहारे से सूर्य लोक में उपभोग की समर्थता है।

युक्ति भी सूर्य में पार्थिव अंश को सिद्ध करती है। जैसे हम

लोगों के उपयोगी इस पार्थिव अग्नि में, पार्थिव स्थूल भाग का सम्बन्ध है इसी प्रकार सूर्य की अग्नि में भी सूक्ष्म पार्थिव भाग की स्थिति है। यही सूक्ष्म पार्थिव भाग हमारी पृथिवी की उत्पत्ति का कारण है और सूर्य में स्थित होकर, पृथिवी के आकर्षण का निमित्त बना हुआ है क्योंकि विकार रूप कार्य वस्तु अपने कारण की तरफ खिचती है। यह बात महाभाष्य व्याकरण में भी लिखी है †।

यद्यपि पृथिवी का गोला सूर्य की ओर आकृष्ट होता है तथापि अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध रखने वाले तेजोमय सौर-भाग की रश्मियां इस पृथिवी को एकतानता से परे धकेल रही हैं। इस आकर्षण और परे धकेलने का परिणाम यह होता है कि पृथिवी एक नियत कक्ष में सूर्य के चारों ओर घूमती है। सूर्य का तेजोभाग इस पृथिवी को एकतानता से परे धकेलता है, इस कारण पृथिवी अपनी नियत कक्षा पर रहती हुई सूर्य के अन्दर प्रविष्ट नहीं हो जाती, और न यह बिल्कुल परे ही परे धकेली चली जाती है क्योंकि सूर्य का घना मध्य भाग इसे अपनी ओर खींच भी रहा है। जैसे पोली नलिका से निकली हुई वायु-धारा अपने ऊपर के गोल दाने को ढकेलती भी है और धारण भी करती है। स्वाभाविक आकर्षक के कारण दाना फुङ्कार से बहुत दूर नहीं जा सकता और वायु की टक्कर दाने को नलिका पर आने नहीं देती। ठीक यही बात पृथिवी और सूर्य के सम्बन्ध में समझें।

सूर्य ही पृथिवी के धारण का कारण है इसमें वेद की साक्षी भी है। यथाः—

"आयातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः ॥"

(अथर्व० ३। ८। १)॥

---

†—लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग्गच्छति नोर्ध्वमारोहति। पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छति" (महा० १। १)

मित्र अर्थात् सूर्य ऋतुओं के साथ सम्बद्ध हुआ अपनी किरणों द्वारा पृथिवी को उसके नियत स्थान पर रखता है।

२—सूर्य के संगठन के वर्णन के पश्चात् अब उसकी रश्मियों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। सूर्य के सम्बन्ध में यह भी वर्णन मिलता है कि इसकी रश्मियां सहस्रों हैं। यथा—

"सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः।" (प्रश्नो० १)

रंग-भेद से इसकी रश्मियां सात ही प्रकार की हैं जैसा कि वेद में लिखा है—

"सप्त त्वा हरितो वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षणम्॥"

(अथर्व० १३।२।२३) अर्थात् हे सूर्य! सात किरणें तेरा वहन कर रही हैं।

इन सात किरणों में से दो किरणें प्रधान हैं इन दो किरणों का भी वर्णन वेद में बहुत स्थानों पर है। जैसा कि:—

"यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः।
तस्मा इन्द्राय गायत॥" (ऋ० १।५।४)

जिस सूर्य की दो किरणें निज वृत्ताकार सूर्य-मण्डल में इस प्रकार वर्त्तमान हैं कि शत्रुजन संग्रामों में उन्हें नहीं सह सकते, उस सूर्य का हे लोगो! तुम व्याख्यान करो, अर्थात् स्वयं जान कर दूसरों को भी इसका ज्ञान दो।

इस मन्त्र में कही गई ये दो किरणें कौनसी हैं इसके सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण का कथन इस प्रकार है कि "ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी" (ऐ० ब्रा० ८।६) अर्थात् सूर्य की दो किरणें ऋक् और साम हैं। ऋक् और साम की आधिदैविक व्याख्या छान्दोग्योपनिषद् में निम्न प्रकार है—

"अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम।"

(छा० उप० १।६।५)।

इस प्रकार सूर्य में एक किरण है "शुक्लभाः" और दूसरी नील-रूप कृष्ण किरण है। इन दो किरणों के मेल से संग्रामों में

शत्रु-जनों पर विजय प्राप्त होती है। सम्भवतः इन दो किरणों के मेल से कोई "सौरास्त्र" बन सकता हो। यह एक रहस्य की बात है। ऋषि दयानन्द ने भी वेदभाष्य में (ऋ०। १। २०। ६) पर लिखा है "सूर्यकिरणैराग्नेयाद्यादीनि शस्त्राणि" अर्थात् सूर्य की किरणों के द्वारा आग्नेय आदि अस्त्र बनाए जा सकते हैं।

हमारा विचार है कि आग्नेय-काच द्वारा जो आग लग जाती है उसका कारण भी शुक्रभाः और नीली रूप कृष्ण किरण ही हैं। जब आग्नेय काच में ये दोनों किरणें मिलती हैं तभी आग लगती है। शेष किरणें इन्हीं दो किरणों की सहायक होती हैं। जहां शुक्रभाः नहीं वहां अन्य प्रकार की किरणों के विद्यमान होने पर भी प्रकाश नहीं हो सकता, और जहां शुक्रभाः है तथा नीली किरण नहीं वहां प्रकाश के होते हुए भी जलाने का काम नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में खद्योत तथा दबी आग आदि उदाहरण समझने चाहियें। अग्नि में भी, जलाने के काम में, उसकी शुक्रभाः तथा नीली रूप कृष्ण किरणें ही काम में आती हैं। सूर्य की न्याईं अग्नि में भी सात किरणें विद्यमान हैं। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—

> "काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा
> स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥"

वस्तुतः अग्निमात्र में सात रंग हैं। चाहे वह पार्थिव अग्नि हो, वैद्युत अग्नि हो या सौर अग्नि हो। सूर्य के सात रंगों को वेद में 'सप्त हरितः सप्ताश्वाः' आदि शब्दों द्वारा दर्शाया जाता है। मुण्डकोपनिषद् के उपरोक्त प्रमाण में पार्थिव-अग्नि के सात रंगों को 'सप्त जिह्वाः' शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया है।

इसी प्रकार वैद्युत-अग्नि के भी सात रंग होते हैं। आकाशीय बादलों में जो वैद्युत-अग्नि दृष्टिगोचर होती है, उसके भिन्न भिन्न रंग दिखाई भी पड़ते हैं। उत्पातानुमान-शास्त्र का एक वचन इस सम्बन्ध में बहुत प्रसिद्ध है यथाः—

"वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी ॥" इत्यादि ।

अर्थात् विद्युत् यदि कपिल रंग की हो तो समझना चाहिये कि वायु वेग से बहेगी, यदि वह बहुत लाल हो तो समझना चाहिये कि दिन बहुत तपेंगे, इस प्रकार विद्युत के सम्बन्ध में भी भिन्न भिन्न रंगों की कल्पना की गई है।

सूर्य, आग और आकाशीय विद्युत्—इन तीनों में मूल किरण शुक्रभाः है। शुक्रभाः किरण से शेष सभी किरणें उत्पन्न की जा सकती हैं। इसलिये मुण्डकोपनिषद् के उपर्युक्त प्रमाण में शुक्रभाः का नाम विश्वरूपी दिया है। अर्थात् वह किरण जो कि सब किरणों को रूप दे सकती है, उनके स्वरूप का निर्माण कर सकती है। इस मूल किरण के सम्बन्ध में वेद में लिखा है किः—

"साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं, षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥"

(ऋ १ । १६४ । १५ ॥)

इस मन्त्र का देवता है "विश्वेदेवाः"। सूर्य की किरणों को 'विश्वेदेवाः' कहते हैं। यथाः—तस्य सूर्यस्य ये रश्मयस्ते विश्वेदेवाः" (श० ब्रा० ४ । ३ । १ । २६)। अतएव इस मन्त्र का अर्थ यह हुआ कि "एक साथ प्रकट होने वाली सूर्य किरणों में से एक किरण शुक्रभाः है जो कि सातवीं किरण है। यह किरण एक ही कारण से उत्पन्न हुई है और शेष छः प्रकार की किरणें गतिशील हैं तथा द्युलोक में रहने वाले सूक्ष्म-तत्वों के सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं" इसी प्रकार—

"इदं सवितर्विजानीहि षड्यमा एक एकजः। तस्मिन् हापित्व-मिच्छन्ते य एषामेक एकजः (अथर्व० १० । ८ । ५ ।)

इस मन्त्र में भी छः किरणों का और एक किरण का पृथक् वर्णन आता है। यह मन्त्र सूर्य सम्बन्धी है इसमें प्रमाण यह है कि इससे पूर्व "द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्" (अथर्व० १० । ८ । ४ ।) मन्त्र में सूर्य के विज्ञान का ही वर्णन हुआ है। 'इदं सवितः' इस

मन वहाँ विवेचना या सङ्कल्प-विकल्प से रहित हो जाते हैं और अपना आत्मा उस वस्तु के बड़प्पन को स्वीकार कर लेता है। वैसे तो संसार में अनन्त गुण और धर्म पाये जाते हैं तथापि तर्क-शिरोमणी प्राचीन ऋषियों ने महाव्यापक तीन धर्मों को सामने रख के तारतम्यता दी है। जिनमें प्रथम सत् = सत्ता है। संसार की सभी वस्तुएं सत्तामय हैं किन्तु कोई अल्पकालिक है, कोई अधिककालिक है, तो कोई महाकालिक है। एवं तारतम्यता से अन्त में कोई वस्तु सार्वकालिक सत्ता या सारी सत्ताओं की मूल-सत्ता सिद्ध होती है। अथवा कोई वस्तु छोटी है, कोई बड़ी है, तो कोई बहुत बड़ी है, एवं तारतम्यता से अन्त में कोई वस्तु सार्वदेशिक-सत्ता वाली, सब सत्ताओं का आधार या जहां संसार के सब पदार्थ अन्त में लीन होकर असत् हो जाते हैं केवल वह आधार वस्तु ही सत् रह जाती है। अतएव वह वर्तमान में भी सब में सत् है और उत्पत्ति से पूर्व भी थी। इसलिये सर्वाश्रय सत् वस्तु एक ही है।

२—प्राणी सृष्टि में हरएक जीव में चेतना पाई जाती है जो अपने शरीर और स्वत्व या सम्पत्ति के सम्बन्ध में चित् चेतन रहता है। इसके अन्दर भी तारतम्यता है। एक आत्मा अल्पज्ञ या अल्प चेतावनी रखता है, दूसरा उससे अधिक, तीसरा अत्यधिक। कोई शासक अपने सारे कामों तथा स्वाधीन राष्ट्र में चेतन है, तो कोई शासक पृथिवी भर के चक्रवर्ती राज्य की व्यवस्थाओं में चेतन है, कोई विद्याओं में अधिक विज्ञ है, तो कोई अत्यधिक है। एवं विज्ञता.पूर्वक शासन में विचार के सम्मुख एक वस्तु ऐसी भी आती है कि सारे संसार तथा सब लोक लोकान्तरों की ठीक व्यवस्था या वैज्ञानिक शासन में तारतम्यता से अन्तिम एक सब चेतनों में चेतन प्रतीत होता है, जहां किसी समय सारे चेतन अपनी चेतनता को समर्पित कर देते हैं। केवल एक वस्तु ही

सबका आधार चित् रह जाता है। जो वर्तमान में भी चित् है और सृष्टि से पूर्व भी चित् ही था।

३—आनन्द मीमांसा में मनुष्य के सम्मुख सबसे अवर कोटि का आनन्द गन्ध है। उससे ऊपर रसानन्द और उससे बढ़कर रूपानन्द, रूप से उत्तम स्पर्शानन्द, स्पर्श से बढ़कर शब्दानन्द है। एवं तारतम्यता में इससे ऊपर मानस आनन्द है जिसमें प्रेम, प्रीति, हर्ष, प्रसन्नता, स्थिरता और स्वच्छता का अनुभव होता है। मानस आनन्द से उत्तम ब्रह्मानन्द है, जिसमें मानस आनन्द के प्रेम प्रीति हर्ष आदि की भी इच्छा न रहकर केवल सर्वथा विश्राम अत्यन्त शान्ति का अनुभव करता हुआ आनन्द की पराकाष्ठा समझता है और जिसको स्थायी तथा निर्बाधरूप से अनुभव करने में स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार तारतम्यता से एक अन्तिम आनन्द अपने आत्मा के सम्मुख होता है जिसके सामने सारे आनन्द अकिञ्चित् तथा अवस्तु-रूप को प्राप्त हो जाते हैं शेष वही अन्तिम आनन्द रह जाता है बस वह सर्वत्र सर्वकाल में एक रस वर्तमान आनन्द है उसी को वस्तुतः आनन्द कहना उचित है।

उपर्युक्त विचार-धारा से अन्त में एक वस्तु सबसे बड़ी सिद्ध होने से ब्रह्म है और वह ब्रह्म वस्तु सत्-चित्त-आनन्द होने से ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप कहा जाता है। इसी को ईश्वर या परमात्मा भी कहते हैं। यह ब्रह्म का वैज्ञानिक स्वरूप आपके सम्मुख रक्खा है, अब ब्रह्म के सम्बन्ध में शास्त्रीय सिद्धान्त वर्णन किया जाता है जिसमें वेद के आधार पर ब्रह्म का स्वरूप, उसका भिन्न भिन्न पदार्थों से सम्बन्ध, तथा उसकी प्राप्ति के साधन की चर्चा, संक्षेप से की जाती है—

"द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः" (यजु १७ । १९)

"परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो-दिशश्च उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश"

(यजु० २३ । ११)

"वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्चविभूः प्रजासु"
(यजु० ३२ । ८)

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम् ।
संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि ।। (अथ० १ । १ । ४)

अर्थ—अति सूक्ष्म आकाश लोक से लेकर अति स्थूल पृथिवी लोक पर्यन्त सारे संसार का उत्पन्न करने वाला देव एक ही है। १।

संसार के उत्पन्न करने वाला परमात्मदेव सारे आकाश वायु आदि भूतों, सूर्य आदि लोकों, पूर्व आदि दिशाओं तथा उपदिशाओं को व्याप्त होकर अपितु सूक्ष्म प्रकृति सृष्टि को भी प्राप्त होकर जो वर्तमान है उस ऐसे संसार के आत्मरूप परमात्मदेव को अपने आत्मा से प्राप्त करना चाहिये। २।

संसार के आधार भूत जिस सद्रुप ब्रह्म में यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता और नष्ट होता है और जो प्रत्येक वस्तु में ओत प्रोत हुआ विभु-रूप में वर्तमान है उसको हृदयगुहा में अनुभव करना चाहिये। ३।

वह अन्तर्यामी जगदीशदेव हृदय गुहा में अपनाया हुआ सचमुच हमको भी तत्काल अपनाता है, अतः उस ऐसे निःशङ्क अपनाने वाले प्रभुदेव के साथ हम श्रवण से सदा सङ्गति किया करें, हमको उसके श्रवण से कोई भी न हटा सके। ४।

इन मन्त्रों में ईश्वर का स्वरूप, उसका अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध और प्राप्ति का साधन तथा फल बताया गया है। यहां पर केवल वेदोक्त प्राप्ति के साधन की व्याख्या ही करनी इष्ट है। अन्तिम मन्त्र में बतलाया है कि 'श्रवण' से परमात्मदेव के साथ सङ्गति होती है। अध्यात्म-शास्त्र में श्रवण चार प्रकार का होता है। प्रथम श्रवण (सुनना) दूसरे मनन (विचार करना) तृतीय निदिध्यासन प्राप्ति के लिये (बारम्बार प्रयत्न

या अभ्यास करना) चौथे साक्षात्कार (वस्तु की प्राप्ति)। इनके समझने के लिये एक उदाहरण दिया जाता है मानो एक पिपासातुर बालक प्यास से आकुलित हुआ किसी वृद्ध पूजनीय पुरुष के पास जाता है और नम्र प्रार्थना करता है कि हे महानुभाव ! मुझे जल की अत्यन्त पिपासा लगी हुई है एवं व्याकुलित में जल के लिये आपकी शरण में आया हूँ।

वृद्धहितैषी—बच्चा ! हां जल है, लो यह रज्जू और पात्र (रस्सी डोल) सामने कोने में कुआं है उससे जल खींचो और पीकर शान्ति प्राप्त करो।

(लेखक) उदाहरण में वृद्ध-वचन ही श्रवण है। तदनन्तर इसको प्रमाण मानकर विचार से निश्चय करता है कि जब सामने कोने में कुआं है और यह डोल रस्सी है तो जल का प्राप्त होना सम्भव है बस यही मनन है। एवं मनन से संशय रहित होकर रस्सी डोल को उठा कुएँ पर पहुँच कर जल खींचता है, जब तक जल उसके हाथ पर नहीं आता तब तक का यह प्रयत्न निदिध्यासन कहलाता है। एवं निदिध्यासन से वस्तु की दूरी, अन्तर, व्यवधान जब हट जाता है तो उसकी प्राप्ति अर्थात् साक्षात्कार हो जाता है। श्रवण और साक्षात्कार वस्तु में प्रवृत्ति करता है मनन और निदिध्यासन संशय और दूरी की निवृत्ति करता है। अस्तु। अब इन श्रवण आदि चारों का विशेष रूप से व्याख्यान किया जाता है।

श्रवण—यद्यपि यह शब्द सुनने का अर्थ देता है इसमें श्रुश्रवणे धातु है, पर यहां अध्यात्म-शास्त्र में सभी प्रकारों से उपदेश ग्रहण करने को श्रवण कहते हैं, चाहे वह कानों से सुनकर हो चाहे सत्पुरुषों के आचरणों को देखकर अथवा स्वयं ही ग्रन्थों के पढ़ने से हो। जिस प्रकार दर्शन शास्त्र में प्रत्यक्ष का अर्थ सभी इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान का नाम है यद्यपि 'प्रति-अक्ष' में अक्ष का अर्थ आंख है। अतएव उपदेश का परम साधन वेद

श्रुति के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से ही इससे उपदेश ग्रहण करते चले आये हैं। मनुष्य को सबसे प्रथम श्रवण की आवश्यकता है क्योंकि "श्रवणमन्तरेण न कस्यचिज्ज्ञानं भवति।" विना श्रवण के किसी को भी किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। जो ऐसा कहते हैं कि श्रवण की कोई आवश्यकता नहीं, मनुष्य अपने मन से विना श्रवण के सब कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है उनका यह कथन अत्यन्त मिथ्या है क्योंकि नेत्रादि साधनों के समान मन एक साधन पदार्थ है, जैसे कि दैवी प्रकाश सूर्य की किरणें जब स्वतः (सूर्य द्वारा) या परतः (अग्नि-प्रदीप आदि द्वारा) नेत्रों में पड़ती हैं तभी कोई आँख वाला मनुष्य देखने में समर्थ होता है, अन्यथा नहीं। ठीक इसी प्रकार जब तक वेद-ज्ञान रूप दैवी सूर्य की ज्ञान रश्मियां स्वतः (वेदाध्ययन) या परतः (ऋषि ग्रन्थों, आप्तोपदेशों, माता पिता की शिक्षाओं तथा उद्‍बोधक संस्कारों और सुना सुनाई आदि किसी न किसी प्रकार प्राप्त ज्ञानांकुरों के) रूप से मन में नहीं गिरतीं तब तक मनुष्य कोई कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, यह मनुष्य की बड़ी भ्रान्ति और मिथ्या गर्व है जो नैमित्तिक ज्ञान के विना अपना कल्याण चाहता है। हम तो यह कहने को तय्यार हैं कि जितना ज्ञान-विषय संसार में प्रचलित है उसका प्रकाश वेद से ही हुआ है। यह बात दूसरी है कि वह ज्ञान कहीं पर साक्षात् या कहीं पर गुप्त रीति से पहुँचा है, स्वयं नहीं तो पूर्वज पितरों ने ज्ञान प्राप्त किया है। अभी तक भी विदेशों आदि के एजेण्ट हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों को अन्वेषण करके ले जाते रहे। अतएव श्रवण में वेद का प्रथम स्थान है।

मनन—श्रवण किये विषय को विचार कर विरुद्ध किंवा संशयों को हटाकर श्रद्धा तथा विश्वास जमाना मनन का काम है। जैसे ईश्वर के सम्बन्ध में यह श्रवण किया है कि उस जगदीश-देव ने सारे संसार को उत्पन्न किया है इस बात का मनन अर्थात

विचार विचारशील इस प्रकार करता है कि कोई भी कार्य (बनी हुई) वस्तु किसी कर्ता से बनती है। घड़े को बनाने वाला कुम्हार है। विना कुम्हार के घड़े की रचना नहीं हो सकती एवं यह सृष्टि कार्य (बनी हुई) है; यद्यपि हमारे सामने नहीं बनी तथापि इसके एक देश (एक भाग) हमारे सामने बनते रहते हैं। अर्थात् इसका प्रत्येक अवयव कार्य है क्योंकि कार्य के धर्म अर्थात् उत्पन्न होना, फिर कुछ काल स्थिर रहना, पुनः नष्ट हो जाना, ये तीन धर्म जो कार्य में होते हैं वे पाये जाते हैं। घड़ा उत्पन्न होता है—फिर कुछ काल स्थिर रहता है—पुनः नष्ट हो जाता है, एवं सृष्टि में इसके एक देश वृक्ष, मनुष्य आदि प्राणी वा अन्य कोई वस्तु प्रथम उत्पन्न होती है, फिर कुछ काल स्थिर रहती है, पुनः नष्ट हो जाती है। इस प्रकार कार्य-धर्मों से वर्तमान हुई अपने कार्यत्व को प्रकट करती है। जब कि एक देश कार्य है तो सर्वदेश सम्पूर्ण सृष्टि भी कार्य है, क्योंकि जो धर्म एक देश में होता है वह धर्म उस वस्तु के सर्व देश में होता है।

पेंसिलों का बना चित्र है, यदि उसका कोई एक देश रबर से मिट सकता है तो वह सम्पूर्ण चित्र रबर से मिट सकता है। लकड़ी का कोई भाग अग्नि से जल सकता है तो समुची लकड़ी अग्नि से जलकर भस्म हो सकती है। एवं सृष्टि कार्य सिद्ध हो जाने से कर्ता को सिद्ध कर रही है। अतएव सृष्टि का कर्ता अवश्यमेव है जिसको हम ईश्वर नाम देते हैं। मननशील पुरुष किसी भी पदार्थ को विवेचना या मनन की दृष्टि से जब देखता है तो निःसन्देह वह इस सुपरिणाम पर पहुंच जाता है कि सृष्टि का कर्ता परमात्मदेव है। उदाहरण से यह बात समझ में आ जावेगी। आपने बहुधा देखा होगा कि हमारे अङ्गों पर मच्छर जैसा कोई क्षुद्र जन्तु बैठ जाता है, हम अङ्गुली सामने करते हैं तो वह देखते ही तत्काल उड़ जाता है। यहां यह एक मनन धारा उत्पन्न होती है कि इस छोटे से मच्छर का हम मुख तक भी अपनी आंखों

से स्पष्ट नहीं देख सकते तब उस इतने छोटे मुख में आंख कितनी छोटी होगी जिसको बाल से भी सूक्ष्म कह सकते हैं। और फिर उस इतनी सूक्ष्म आंख में वह कृष्ण तिल (काला बिन्दु) कितना महीन होगा जिसको हम मन से भी निश्चय नहीं कर सकते। इस ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म यन्त्रकला को देखकर विवेकी पुरुष के आत्मा में निश्चय हो जाता है कि अवश्यमेव चेतन ब्रह्म इस यन्त्रकला का बनाने वाला है। खेद है उन नास्तिकों पर जो मोटर आदि कलाओं को देखकर उनके बनाने वाले की स्तुति तो करने लगते हैं किन्तु सृष्टि में मच्छर जैसी सूक्ष्म और गहन यन्त्रकला को देखकर सृष्टिकर्त्ता विभुदेव की स्तुति न करके अपने बद्धजीवन में अपराध के भागी बनते हैं।

२—हमारे शरीर की रचना ऐसी अद्भुत है कि जिसको मननशील पुरुष देखकर चकित हो जाता है और अनन्त-शक्ति सर्वज्ञ जगदीश देव का स्मरण करता है। शरीर में परस्पर हड्डियों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, यकृत्-प्लीहा तथा पंखा-कला का स्थापन और जीव का संयोजन बड़ा आश्चर्यकारी है। जैसे बढ़ई एक लकड़ी में घाई दूसरी में उभार करके दोनों को परस्पर फंसाकर जोड़ देता है और ऊपर से कील ठोक देता है। एवं अन्तर्यामी निर्माता देव ने हड्डियों को परस्पर जोड़कर नाड़ियों को बान्धा है और वे हड्डियां अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार हिलती और मुड़ती हैं। बड़ा आश्चर्य तो यह है कि निर्माता देव ने गर्भ में सर्वाङ्ग सम्पूर्ण-शरीर-व्यूह अस्थि नाड़ी–मांस–त्वचा–गोलक आदि जैसे बना दिये हैं वह सब आयु के साथ साथ वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं। हड्डियों के जोड़ तथा जुड़ी हुई हड्डियों के साथ लिपटे हुए नाड़ी-सूत्रों का बढ़ता जाना विचारक को चकित करता हुआ जगदीश देव की सत्ता का निश्चय कराता है। भोजन का आमाशय में जाकर घोल बनना, पक्वाशय में ग्राहक अंकुरों द्वारा साररस खिंचकर आन्त्र झिल्ली से

बाहर लसिका के रूप में एकत्र होना, पुनः उसका रक्तवाहिनियों में पहुँच कर यकृत् और प्लीहा से पाचक और रञ्जक कणों से मिल खून के रूप में होकर सारे शरीर में सञ्चरित होना, फिर नाड़ियों द्वारा हृदय में एकत्र होना और धीरे धीरे फुफ्फुसों द्वारा वायु के आकर्षण से शुद्ध होकर पुनः शुद्ध रक्ताधार—हृदय में पहुँच कर जीवन का हेतु बनना। शेष रस रहित वस्तु नीचे सरकती हुई मलाशय में पहुँच कर मलद्वार से मल के रूप में बाहर निकल जाना, रक्त में से मलिनक्षारजल-भाग वृक्कों में पहुँच कर मूत्राशय में एकत्र हो मूत्रद्वार से बाहर निकलना और स्वेद तन्तुओं से स्वेद के रूप में बाहर निकलना, ज्ञानवाहक तन्तुओं का सर्वत्र शरीर में फैलाव होकर ज्ञान-प्राप्ति होना, मस्तिष्क में ज्ञानेन्द्रियों के तन्तुओं का सम्बन्ध और इसकी रचना आदि शरीर-कला बड़ी अद्भुत है जो निर्माता का परिचय दे रही है।

३—मीमांसावृत्ति पुरुष प्रातः सूर्योदय पूर्व दिशा में और सायं सूर्यास्त पश्चिम व्योम में देखता है, चन्द्रमा जो रात्रि में घटता बढ़ता हुआ हिम-रश्मियों का संचार करता रहता है, असंख्य नक्षत्र गगन में ठहरे हुए नियमित चाल चलते हुए तथा सृष्टि में विविध कृत्य और पदार्थ स्पष्ट बतला रहे हैं कि इस सब यन्त्र का संचालक सर्वव्यापक परमात्मदेव है। बिना उस निर्माता, धाता और नियन्ता के और कोई इसका शासक नहीं है। अस्तु।

मनन के लिये अनेक उदाहरणें दी जा सकती हैं। विचारशील थोड़े से ही समझ जाते हैं।

निदिध्यासन—मनन के अनन्तर निश्चयात्मक होकर मनुष्य अपने आत्मा में उस अन्तर्यामी परमात्मदेव को अनुभव करता है। अतएव सभी मानसवृत्तियों को रोककर स्वात्मा से उन्नत-साधनों द्वारा परमात्मदर्शन में यत्न करता है। एकाग्रवृत्ति और ब्रह्म-संलग्नता में स्थिर होता है। बस यही निदिध्यासन है। इसके लिये यहां हम एक उदाहरण दे देते हैं वह यह कि वेद की

एक प्रसिद्ध प्रार्थना है कि "यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा" (यजु० ३२ । १४) इस मन्त्र में मेधा की याचना है। वास्तव में वेद का ज्ञान सत्य है। वेदोक्त यह ऋषि-बुद्धि प्राप्त हो सकती है पर वाणी से नहीं किन्तु प्रार्थना अर्थात् सङ्कल्प मन का विषय है। अतएव वाणी की प्रार्थना उपयोगी नहीं है। किन्तु मन से मेधा-प्राप्ति का सङ्कल्प पूर्ण होगा इसलिये प्रार्थना में तन्मयता से मानसिक प्रयत्न निदिध्यासन है। जब मन सब वृत्तियों को छोड़कर बलिष्ठ तथा स्वच्छ हुआ पूर्ण प्रयत्न से आन्तरिक-वृत्ति होकर उक्त 'यां मेधां' मन्त्र का विचार के साथ बारम्बार अनुभव करता है तो निःसन्देह मेधा का आकर्षण होता है। जिस प्रकार हाथ से किसी बोझल वस्तु को पकड़ने के लिये हाथ बलिष्ठ और स्वस्थ होने पर उचित भार को ग्रहण कर सकता है तब यह असम्भव है कि हाथ से वह बोझ ग्रहण न किया जा सके; ठीक इसी प्रकार मन से सङ्कल्प (प्रार्थना) करके मेधा प्राप्ति होना समुचित है। जब मनुष्य यम और नियम के द्वारा मन को स्वस्थ तथा अभ्यास अर्थात् एकाग्रता से बलिष्ठ बनाकर मेधाप्राप्ति के निदिध्यासन में तन्मयता से तत्पर होता है तो अवश्यमेव मेधा प्राप्ति होगी। बस यही प्रकार ब्रह्म प्राप्ति या ब्रह्म दर्शन का है अर्थात् अन्तर्यामी परमात्मदेव आत्मा के द्वारा निदिध्यासन करने से प्राप्त होता है। ब्रह्मदर्शन के निदिध्यासन का नाम योग है। योग के ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीतृनाम के तीन मार्ग हैं जिनका परिचय मेरी लिखी हुई "योगमार्ग" पुस्तक में कर सकते हैं। यहां पर तो सामान्य रूप में ही कुछ वर्णन किया जाता है। श्री व्यासजी महाराज का योगदर्शन में कथन है कि—

"स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत ।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते" (योग० १ । २८)

ओ३म् के जप और उसके अर्थ भावनरूप निदिध्यासन के बारम्बार सहयोग से परमात्मसाक्षात्कार होता है।

साक्षात्कार—निदिध्यासन के अनन्तर साक्षात्कार होता है। सम्यक् प्राप्ति या सम्यग्दर्शन का नाम ही साक्षात्कार है। अस्तु ॥ अब श्रवण-चतुष्टय का श्री व्यास वचन से उपसंहार करते हैं—

"आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।

त्रिधाप्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥" (योग० १ । ४८)

आगम = श्रवण, अनुमान = मनन, ध्यानाभ्यासरस = निदिध्यासन से लब्धि = ब्रह्म साक्षात्कार होता है। इति।

आचार्य धर्मधरआर्य